ॐ

श्री परमात्मने नम

श्री कुन्द-कहान परमार्थ प्रकाशन
पुष्प-१

ज्ञानामृत कलश

श्री समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय सग्रह एव श्री नियमसार कलशों
का
उन्हीं छन्दो में हिन्दी पद्यानुवाद

प्रकाशक
नेमचन्द्र जैन परिवार,
८, वीरनगर जैन कॉलोनी,
दिल्ली-११०००७

प्राप्ति स्थान :-

८, वीरनगर जैन कालोनी

जी. टी. रोड, दिल्ली-११०००७

प्रथम आवृत्ति ११००

मंगसिर कृष्णा ७ वीर निर्वाण सम्वत् २५०८

(पूज्य गुरुदेव श्री-पुण्य स्मृति दिवस)

मुद्रक

जगदीश प्रिंटर्स,

करोल बाग,

नई दिल्ली-११०००५

समर्पण

जिनधर्म दिवाकर परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री

के

कर [illegible] कमलों में सविनय समर्पण

श्री जिनेन्द्र स्तुति

तुम्हारी महिमा कही न जाय! नाथ की महिमा कही न जाय ॥
महिमा कही न जाय, तुम्हारी महिमा कही न जाय ॥ टेक ॥

जिनके दर्शन से निज दर्शन, करत चित्त हर्षाय!
जो जिन हैं सो ही मैं चेतन, यह अनुभव उर आय ॥ तुम्हारी० ॥ १ ॥

स्वसंवेदन ज्ञान कार्य है, नाथ रहे दर्शाय!
ज्ञायकघन की अनुपम शान्ति, भोग यही मन लाय ॥ तुम्हारी० ॥ २ ॥

पुण्य-पाप सबही विभाव हैं, अनुभव आतम स्वभाव।
बलिहारी ध्रुव ज्ञायकघन की, जिन ध्रुव कीने[1] निज भाव[2] ॥ तुम्हारी० ॥ ३ ॥

चेतन मम सर्वस्व है, नाथ दिखायो मोय[3]!
आत्म तृप्ति, सतुष्टि, रति पर, बलि-बलि जाऊ तोय[4] ॥ तुम्हारी० ॥ ४ ॥

---

१ किये २. पर्याय ३ मुझे ४ तुम्हारी

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
श्री पंचास्तिकाय संग्रह कलश	(७१—७२)
श्री नियमसार कलश	
जीव अधिकार	७३
अजीव अधिकार	८२
शुद्ध भाव अधिकार	८७
व्यवहार चारित्र अधिकार	६५
परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार	१०४
निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार	११०
परम आलोचना अधिकार	११८
शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार	१२५
परम समाधि अधिकार	१३१
परम भक्ति अधिकार	१३६
निश्चय परमावश्यक अधिकार	१४०
शुद्धोपयोग अधिकार	१४६

मंगलाचरण

निश्चय शुद्धात्मा शरण, परमेष्ठी व्यवहार।
द्रव्य-भाव वदन सहित, करू मगलाचार ॥ १ ॥

सीमंधर जिनदेव की, दिव्यध्वनि साक्षात्।
सुन कुन्दकुन्द आचार्य ने, रचे ग्रन्थ विख्यात ॥ २ ॥

अमृतचन्द्र आचार्य और, पद्मप्रभ मुनिराज।
स्वर्ण मदिर टीका रचों, रत्न कलश शिरताज ॥ ३ ॥

ज्ञानामृत परिपूर्ण ये, कलश महा हितकार।
गुरु-वचनामृत से अहो! वर्ते जय जयकार ॥ ४ ॥

श्री समयसार कलश

जीव अधिकार

(अनुष्टुभ्)

नमूं समयसार को, स्वानुभूति से जो दिपै ।
चित्स्वभाव भाव है जो, जाने भावान्तर सभी ॥ १ ॥

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मी आत्मा के, तत्त्व को भिन्न देखती ।
अनेकान्तमयी मूर्ति, करो प्रकाश नित्य ही ॥ २ ॥

(मालिनी)

पर परिणति हेतु, मोह कर्मोदय के,
अनुभव से व्याप्त है, जो मैली निरतर ।
मैं शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति, ये अनुभूति मेरी,
समयसार व्याख्या से, परम विशुद्ध हो ॥ ३ ॥

(मालिनी)

द्वि नय विरोध ध्वंसी, स्यात् पद विभूषित,
रमें जिनवचन में, स्वय मोह वम जो ।
लखें झट अवश्य वे, समयसार-ज्योति,
परम, उच्च, अनव, अनय-अखण्डित ॥ ४ ॥

(मालिनी)

हा ! व्यवहार नय स्यात्, प्राक् पदवीधरो को,
कहा हस्तावलम्बन, जगत में यद्यपि ।
तदपि परम अर्थ, चित् चमत्कार मात्र,
पर विरहित अन्त दर्शी को नही कुछ ॥ ५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

स्व में व्याप्त पूर्ण ज्ञानघन मैं, द्रव्यांतरो से पृथक्,
स्व एकत्व-लीन शुद्धनय से, प्रत्यक्ष ये आत्मदर्शी ।
है सम्यग्दर्शन यही नियम से, इतना ही ये आत्मा,
छोड सो नव तत्त्व सन्तति अत , हो एक आत्मा हमे ॥ ६ ॥

(अनुष्टुम्)

शुद्ध नयाधीन अब, आत्म ज्योति भिन्न दिपै ॥
नौ तत्त्वो मे वर्ते पर, स्व एकत्व न जो तजै ॥ ७ ॥

(मालिनी)

यो नव तत्त्व मे गुप्त, ये चिरकाल से थी,
कनक वर्णमानवत्, गोचर करी अब ।
लखो एक रूप अब, यह शुद्धात्म ज्योति,
सतत पर से भिन्न, उद्योत प्रति पद ॥ ८ ॥

(मालिनी)

उदय हो न नयश्री, अस्त होता प्रमाण,
निक्षेपचक्र कहा जाय, जानै नही हम ।
और की तो कहैं क्या, ये सब भेद-विडम्बी,
चिदात्मा के अनुभव मे, दिखता न द्वैत ॥ ९ ॥

(उपजाति)

आत्म स्वभाव, पर भाव भिन्न,
आद्यन्त मुक्त, परिपूर्ण एक।
यहा न संकल्प, विकल्प जाल,
ये आत्मदर्शी, शुद्धनय जागा ।। १० ।।

(मालिनी)

तरैं जहा प्रगट हो, बद्ध स्पृष्टादि भाव,
रहैं किन्तु ऊपर ही, वे न पाते प्रतिष्ठा।
अनुभवो सर्व लोक, मोह छोड़ करके,
उद्योत सब प्रकार, यह सम्यक् स्वभाव ।। ११ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

भूत, वर्तमान, भावी बध को, भेदकर शीघ्र ही,
जो भी सुधी अन्तरग वेदै अहो, शक्ति से मोह हत ।
तो एकात्मानुभव गम्य महिमा, ये आत्मा है व्यक्त हो,
ध्रुव, नित्य, कर्म कलक पक मुक्त, स्थायी देव स्वयं ।। १२ ।।

(वसततिलका)

आत्मानुभूति यह शुद्ध नयात्मिका जो,
ज्ञानानुभूति है यही, यो जान निश्चित ।
आत्मा को आत्मा में, धर लख सुनिश्चित,
सर्वांग ज्ञानघन ये, नित्य एक वर्ते ।। १३ ।।

(पृथ्वी)

अखंडित, अनाकुल, अन्तर्बाह्य दिपै अनन्त,
परम तेज हमे हो, सदा सहज उद्‌विलास।
चिद् उच्छलन निर्भर, जो एकरस उल्लसित,
क्षार काकरी लीलावत्, मदाकाल आश्रय करै॥ १४॥

(अनुष्टुभ्)

यह ज्ञानघन आत्मा, आत्म सिद्धि के कामी को।
साध्य-साधक भाव से, द्विधा एक सेव्य मदा॥ १५॥

(अनुष्टुभ्)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र, त्रिरूप मेचक आत्मा।
स्वय एकत्व से तभी, अमेचक प्रमाण से॥ १६॥

(अनुष्टुभ्)

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तीन रूप परिणमै।
एक ही तीन रूप यो, मेचक व्यवहार से॥ १७॥

(अनुष्टुभ्)

परमार्थ से तो व्यक्त, ज्ञायक ज्योति एक ही।
सर्व भावातर ध्वसी, स्वभाव से अमेचक॥ १८॥

(अनुष्टुभ्)

बस हो आत्म-चिन्ता से, जो मेचक-अमेचक।
दर्श-ज्ञान चारित्र से, साध्य-सिद्धि, न अन्यथा॥ १९॥

(मालिनी)

हो कथंचित् सम्यक्त्रय, किन्तु स्व एकता से,
डिगै न आत्म ज्योति ये, ऊर्ध्वगामी निर्मल।
अनन्त चैतन्य चिन्ह, वेदें सतत हम,
क्योंकि नही है, नहीं है, अन्यथा साध्यसिद्धि ।। २० ।।

(मालिनी)

उपदेश मे या स्वत, भेदविज्ञान जन्य,
घोर पुरुषार्थ से ले, अनुभूति अचल।
अनन्त भावस्वभाव, निमग्न जहां ज्ञेय,
तो भी रहें मुकुरवत्, सतत निर्विकार ।। २१ ।।

(मालिनी)

तजो जग अभी वह, अनादि रूढ मोह,
चखो ये प्रगट ज्ञान, रसिकों को रोचक।
किसी विधि भी जग में एक आत्मा कभी भी,
अनात्मा से करता न, निश्चय ही तादात्म्य ।। २२ ।।

(मालिनी)

तत्त्व कौतूहली बन, मर कर भी भव्य,
होय तन-पार्श्ववर्ती, चख एक मुहूर्त।
पृथक विलसता स्व, ज्यों भली भाति देख,
मोह तू झट तजेगा, देह मे एकता का ।। २३ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

कान्ति से शुचि करे जो दश दिशा, निस्तेज स्व तेज से,
कोटि सूर्य प्रताप क्षण मे, जन-मन हरे रूप से।
अहो दिव्यध्वनि श्रवणसुख को, साक्षात् अमृत झडी,
लक्षण एक हजार आठ धारी, वद्य तीर्थेश, सूरि ॥ २४ ॥

(आर्या)

कोट आकाश छूते, उपवन-पंक्तियो से ढका भूतल।
चहु ओर खाई तो, पाताल तक, नगर यह ऐसा ॥ २५ ॥

(आर्या)

नित्य अविकार सुस्थित, सर्वांग अपूर्व सहज लावण्य।
और अक्षोभ समुद्रसम, जयवत जिनेन्द्र रूप परम ॥ २६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

व्यवहार से देहात्म एक दीखे, निश्चय से किंचित् न,
यो तन-स्तुति व्यवहार से स्तुति, आत्मा की सो तथ्य न।
निश्चय से तो ये आत्म-स्तुति ही है, आत्म-स्तुति यथार्थ,
समझो तीर्थेश-स्तुति से यो जड-आत्मा की न एकता ॥ २७ ॥

(मालिनी)

यो तत्त्व-परिचितों ने, नय-भेद युक्ति से,
वह देहात्म एकता, है जड से उखाडी।
तो अब किसका ज्ञान. झट यथार्थ हो न
स्व रस वेग पूरित, एक रूप प्रस्फुट ॥ २८ ॥

(मालिनी)

न हो मद परभाव-त्याग दृष्टात दृष्टि,
अति वेग से न वृत्ति, जबलौं उदय हो।
तबलौं झट प्रकाशी, ये स्वानुभूति स्वयं,
हो सभी अन्य भावों से, बिल्कुल पृथक हो ॥ २९ ॥

(स्वागता)

सर्वांग, चिद्रस परिपूर्ण मैं,
चिन्मात्र, एक स्व को स्वादू स्वय।
किंचित् भी, मोह मेरा नही नही,
चिद्घन, मैं तो शुद्ध तेज पुंज ॥ ३० ॥

(मालिनी)

सकल अन्य भावो से, यो करके विवेक,
यह उपयोग स्वयम्, एक आत्मा को धारै।
प्रगटित परमार्थ, दर्शन, ज्ञान-वृत्ति,
परिणति से रमता, आत्म उद्यान मे ही ॥ ३१ ॥

(वसततिलका)

भगवान ज्ञान सिन्धु, सर्वांग उछला,
विभ्रम पटल हटा, जडमूल से ये।
अत्यन्त मग्न हो जग, सब एक साथ,
त्रिलोक व्यापक ज्ञान के शात रस मे ॥ ३२ ॥

अजीव अधिकार

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीव अति भेद दृष्टि करा, श्रद्धा तो पार्षदों को,
ध्वंस अनादि रूढ कर्म-बन्ध ये, स्फुट ज्ञान विशुद्ध।
आत्मा उपवन अनत चित्‌तेज, प्रत्यक्ष नित्योदित,
धीर, उदात्त, अनाकुल रमैं ज्ञान, चित्त आह्लाद कर ॥ ३३ ॥

(मालिनी)

अकार्य कोलाहल में, रखा क्या है रुकजा,
स्वय एक छह मास, लख होके निश्चित।
पुद्‌गलादि भिन्न तेज, ये चित्‌सर मे देव,
क्या अनुपलब्धि शोभे, रे ! उपलब्धि हो यो ॥ ३४ ॥

(मालिनी)

चित् शक्तिरिक्त सबही, तज मूल से झट,
चित्‌शक्ति मात्र निज को, धार प्रत्यक्ष ही।
जो चरै विश्व ऊपर, यह साक्षात् सुन्दर,
वेद आत्मा को आत्मा मे, अनन्त परमात्मा ॥ ३५ ॥

(अनुष्टुभ्)

चित् शक्ति व्याप्त सर्वस्व, सार जीव इतना ही।
चित् शक्ति रिक्त सबही, भाव साक्षात् पौद्‌गलिक ॥ ३६ ॥

(शालिनी)

वर्णादि या, राग मोहादि सब,
भिन्न भाव, इस चित्पुरुष से।
तभी तो वे, अन्तर्दृष्टि मे सभी,
दीखते न, इष्ट एक चित्श्रेष्ठ ॥ ३७ ॥

(उपजाति)

जो भी हो कुछ, जग मे जिससे,
सो वही द्रव्य, किंचित् न अन्य।
सोने को म्यान, सोना लखै जग,
असि तो सोना, नहीं किसी विध ॥ ३८ ॥

(उपजाति)

वर्णादि सर्व, ये सामग्री जानो,
पुद्गल की ही, एक मात्र सृष्टि।
यो पुद्गल ही, नही आत्मा वह,
विज्ञानघन, यों आत्मा तो भिन्न ॥ ३९ ॥

(अनुष्टुभ्)

घी का घडा कहा जाता, तो भी घडा न घीमयो।
जीव वर्णादि सयुक्त, कहैं तोभी न तन्मयी ॥ ४० ॥

(अनुष्टुभ्)

अनादि-अनन्त, ध्रुव, व्यक्त, स्वसवेद्य यह।
जीव तो स्वय चैतन्य, चकचकाता उच्च जो ॥ ४१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णादि सहित और विरहित, अजीव दो रूप है,
यों अमूर्तत्व से न देख सकता, जीव-तत्त्व जगत।
न अव्याप्ति, अतिव्याप्ति ठीक देखा, भेद ज्ञानियो ने ये,
व्यक्त, अचल, जीव-तत्त्व दर्शक, चैतन्य आश्रय लो॥ ४२ ॥

(वसततिलका)

यों जीव से अजीव, लक्षण से भिन्न है,
सो तो स्वय उल्लसित, वेदे ज्ञानी जन।
ऐसा है तो फिर अरे, अज्ञानी का यह,
मोह-प्रसर निरवधि, क्यो नाचता है॥ ४३ ॥

(वसततिलका)

अविवेक का अनादि, वह नृत्य भारी,
वर्णादि पुद्गल ही वहा नाचे न जीव।
चैतन्य धातु प्रतिमा, यह जीव हू मैं,
रागादि पुद्गल विकार से शून्य, शुद्ध॥ ४४ ॥

(मदाक्रान्ता)

यो स्व ज्ञान-करौत से नचा, नचा भेद-अभ्यास,
जब तक, जीवाजीव हो न, पृथक दोनो स्फुट।
ज्ञाता तब तक अतिरस, स्वय प्रकाशा महा,
विश्व व्याप अति स्फुटित, चिन्मात्र व्यक्त शक्ति से॥ ४५ ॥

कर्ता कर्म अधिकार

(मदाक्रान्ता)

चिन्मूरत मैं एक कर्ता ये, क्रोधादि कर्म मेरे,
कर्तृ-कर्म प्रवृत्ति अज्ञ की, ये सर्वज्ञ मेटती ।
ज्ञान ज्योति परम स्वाधीन, अत्यन्त धीर स्फुरै,
निरुपधि, साक्षात् करै विश्व, द्रव्य-दर्शी पृथक ॥ ४६ ।

(मालिनी)

पर परिणति छोड, भेद भेद-कथनी,
उदित अखड ज्ञान, ये अति ही प्रचड ।
कर्तृ-कर्म प्रवृत्ति का, अवकाश यहा क्या,
पुद्गल कर्म-बध भी, फिर कैसे सभव ॥ ४७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

यो हो करके पर द्रव्य से अभी, उत्कृष्ट निवृत्ति ये,
स्व विज्ञानघन स्वभाव निर्भय, आरूढ होय दृढ ।
अज्ञानजन्य कर्तृ-कर्म के सभी, क्लेश तज स्वय ही,
अब से ज्ञानी हो, जगतसाक्षी ये, शोभै पुराण आत्मा ॥ ४८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्य व्यापकता तदात्म मे ही, अतदात्म मे न कभी,
व्याप्य-व्यापक भाव संभव बिना, क्या कर्तृ-कर्म स्थिति ।
ऐसे प्रवल विवेक तेज पुज, सूर्य से भेद तम,
ज्ञानी होय तब यही पुरुष तो, शोभै कर्तृत्व शून्य ॥ ४९ ॥

(स्रग्धरा)

स्व-पर परिणति. जानता ज्ञानी वर्तें, न जानता पुद्गल,
व्याप्य, व्यापकता न, अन्तर्सभव क्योंकि, नित्य भेद अति हो,
इनमें कर्ता-कर्म, भ्रममति भासती, अज्ञान से तबलौं,
जबलौ झट उग्र, आरी वत् भेद कर, दिपैं न ज्ञान ज्योति ॥ ५० ॥

(आर्या)

जो परिणमैं सो कर्ता, जो परिणाम सो है कर्म उसका,
जो परिणति सो क्रिया, वस्तुरूप से न भिन्न तीनों ॥ ५१ ॥

(आर्या)

एक परिणमता सदैव, एक के परिणाम सदा होते हैं।
एक की परिणति होती, क्योंकि अनेक भी एक ही है ॥ ५२ ॥

(आर्या)

न ही दो मिल परिणमते, न हो दो के एक परिणमन होता।
दो को न एक परिणति, क्योंकि अनेक सदा अनेक ही ॥ ५३ ॥

(आर्या)

एक के दो नहीं कर्ता, अरु एक के नहीं कर्म दो होते,
एक की दो न क्रियायें, क्योंकि एक नहीं होय अनेक ॥ ५४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पर मैं करूं अति ढीठ दुर्मति, दौडे अनादि से ही,
मोही का महा अहंकार तम ये, लोक में दुर्निवार।
सो यदि भूतार्थ परिग्रहण से, एक बार नाश हो,
तो फिर ये ज्ञानघन-आत्मा अहो, बन्ध को क्यों प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

(अनुष्टुभ्)

आत्म भाव करे आत्मा, पर भाव सदा पर,
आत्मभाव सो आत्मा ही, परभाव पर ही सो ॥ ५६ ॥

(वसततिलका)

हो ज्ञानस्वरूप स्वय, तोभी अज्ञान से,
सतृण भक्षी गजवत्, रंजित पर मे ।
श्रीखड खट्टे मीठे, स्वाद मे अति गृद्ध,
गो दूध ही मैं पीता हूँ, यह माने मूढ ॥ ५७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञान से मरीचिका जलमान, पीने को दौडे मृग,
अज्ञान से तिमिर मे जन डरें, सर्प मान रज्जु मे ।
अज्ञान से विकल्प चक्र करते, वात-क्षुब्ध सिन्धु वत्,
शुद्ध ज्ञानमयी हैं फिर भी स्वय कर्ता बने व्याकुल ॥ ५८ ॥

(वसतनिलका)

जो ज्ञान-विवेक द्वारा, अपना पराया,
क्षीर-नीर हस सम, सब भेद जाने ।
चैतन्य धातु आरूढ, सदा अचल सो,
है जानता ही बस, करता न कुछ भी ॥ ५९ ॥

(मदाक्रान्ता)

ज्ञान से ही जाने अग्नि उष्ण, नीर शीत भेद यो,
स्वाद से ही, स्वाद-भेद होता, क्षार-पकवान का ।
स्व रस स्फुट नित्य चैतन्य, धातु का क्रोधादि से,
ज्ञान से ही, भेद होता है जो, कर्तृ भाव मेटता ॥ ६० ॥

(अनुष्टुभ्)

यों अज्ञान, या ज्ञान भी, स्व को निश्चय से करै ।
आत्मा आत्म-भावकर्ता, पर भाव का न कभी ॥ ६१ ॥

(अनुष्टुभ्)

आत्मा ज्ञान, स्वय ज्ञान, ज्ञान से अन्य क्या करै ।
पर भाव करै आत्मा, मोह ये व्यवहारी का ॥ ६२ ॥

(वसततिलका)

पुद्गल कर्म यदि न, करै जीव ही तो,
कौन करै उसे फिर, आशका यदि ये ।
सो तीव्र वेग मोह के परिहार हेतु,
पुद्गल कर्म-कर्ता, सुनो हम बतायें ॥ ६३ ॥

(उपजाति)

पुद्गल की यों, परिणाम शक्ति,
स्वभावभूत, है निर्विघ्न स्थित ।
करै स्वभाव, उस शक्ति से जो,
सो पुद्गल ही, है उसका कर्ता ॥ ६४ ॥

(उपजाति)

यो जीव की जो, परिणाम शक्ति,
स्वभावभूत, है निर्विघ्न स्थित ।
करै स्वभाव, उस शक्ति से जो,
सो जीव होता, उसका ही कर्ता ॥ ६५ ॥

(आर्या)

क्यों ज्ञानमय ही भाव, होते हैं ज्ञानी के न अन्य तो।
क्यों अज्ञानमय सर्व, ये अज्ञानी के हों न अन्य ॥ ६६ ॥

(अनुष्टुभ्)

सर्व हों भाव ज्ञानी के, निश्चत ज्ञान-निर्वृत्त,
सभी अज्ञान-निर्वृत्त, वे तो होंय अज्ञानी के ॥ ६७ ॥

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानमय भावो में, व्यापे स्वयं अज्ञानी तो,
द्रव्य कर्म निमित्त जो, उन भावो का हेतु हो ॥ ६८ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

जो कोई त्याग, नयपक्षपात,
स्वरूप गुप्त, रहते हैं नित्य।
विकल्प जाल, च्युत शान्त चित्त,
पीते हैं वे ही, प्रत्यक्ष अमृत ॥ ६९ ॥

(उपजाति)

एक से बद्ध, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्व वेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित्चित् ही नित्य ॥ ७० ॥

(उपजाति)

एक से मूढ, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित्-चित् ही नित्य ॥ ७१ ॥

(उपजाति)

एक से रागी, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७२ ॥

(उपजाति)

एक से द्वेषी, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित्-चित् ही नित्य ॥ ७३ ॥

(उपजाति)

एक से कर्ता, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७४ ॥

(उपजाति)

एक से भोक्ता, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७५ ॥

(उपजाति)

एक से जीव, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७६ ॥

(उपजाति)

एक से सूक्ष्म, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७७ ॥

(उपजाति)

एक से हेतु, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७८ ॥

(उपजाति)

एक से कार्य, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ७९ ॥

(उपजाति)

एक से भाव, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
जो अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८० ॥

(उपजाति)

एक से एक, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८१ ॥

(उपजाति)

एक से सान्त, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८२ ॥

(उपजाति)

एक से नित्य, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८३ ॥

(उपजाति)

एक से वाच्य, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८४ ॥

(उपजाति)

एक से नाना, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८५ ॥

(उपजाति)

एक से चेत्य, न अन्य से वैसा,
चित् मे दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८६ ॥

(उपजाति)

एक से दृश्य, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८७ ॥

(उपजाति)

एक से वेद्य, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनों के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८८ ॥

(उपजाति)

एक से भात, न अन्य से वैसा,
चित् में दोनो के, ये दो पक्षपात।
जो तत्त्ववेदी, च्युत पक्षपात,
उसे अवश्य, है चित् चित् ही नित्य ॥ ८९ ॥

(वसततिलका)

उठते स्वय बहु, विकल्प जाल युक्त,
नय पक्ष झुडभारी, छोड सभी वह।
अन्तर्वाह्य समरस, एकरस मय,
अनुभूतिमात्र निज, एक भाव स्वादे ॥ ९० ॥

(रथोद्धता)

बहुन, ऊची विकल्प-तरंगें,
उछले, जहा सो इन्द्रजाल ही।
जिमके, उदय से ही तत्क्षण,
मो मभी, मिटे ये चित्प्रकाश मैं ॥ ९१ ॥

(स्वागता)

होते हैं, भाव-अभाव-भाव तो,
चित् स्वभाव परमार्थ एक से।
ऐसा मैं, बन्ध-रीति तज सभी,
चेतूं ये, समयसार अपार ॥ ६२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ग्रहता अविकल्पभाव अचल, नयों के पक्ष बिन,
शोभै समयसार जिसको स्वादे, निश्चित जीव स्वयं।
सो विज्ञान एक रस, भगवान, पुण्य पुराण पुरुष,
ज्ञान, दर्शन, या अन्य कुछ भी जो, कहो सो एक यही ॥ ६३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

घोर अति विकल्प जाल में दूर, स्वपुंज से भागा जो,
दूर से ही विवेक ढाल द्वारा, स्वपुंज में बल से ला।
विज्ञान एकरस रस रसीले, आत्मा में ले सो आत्मा,
वेदे सदा यो खींचे ज्ञान ज्ञान में, वाह्यगत नीरवत् ॥ ६४ ॥

(अनुष्टुभ्)

विकल्पक सो ही कर्ता, विकल्प सो ही कर्म है।
कभी यो कर्तृ-कर्मत्व, मिटै न सविकल्प का ॥ ६५ ॥

(रथोद्धता)

करता जो, सो बस करता ही,
जानता जो, सो बस जानता ही।
करता जो, सो न जानता कभी,
जानता जो, सो न करता कभी ॥ ६६ ॥

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्ति न भासे, क्रिया के अन्दर,
और क्रिया न, ज्ञप्ति के अन्दर।
यों दोनों भिन्न, क्रिया और ज्ञप्ति,
ज्ञाता न कर्ता, यो सिद्ध हुआ ये ॥ ९७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्म में नहीं, नहीं निश्चित, सो कर्म भी कर्तृ में,
यों जब दोनो का मिलन हो न तो, कर्तृ-कर्म क्या रहा।
ज्ञाता ज्ञान में, कर्म कर्म में सदा, यो वस्तुस्थिति स्पष्ट,
तो कुमार्ग में क्यो मोह नाचता हा! यह अति जोर से ॥ ९८ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता, हो न त्योही अब, कर्म भी कर्म नही,
ज्ञान ज्ञान, होता और त्योंही, पुद्गल भी पुद्गल।
ज्ञान-ज्योति, अन्तरग जागी, अचल, व्यक्त तथा,
उच्च चित्शक्ति पुज भरित, अत्यन्त गभीर ये ॥ ९९ ॥

पुण्य-पाप अधिकार

(द्रुतविलम्बित)

शुभाशुभ, कर्म के द्वैत को अब,
एक रूप, प्रगट दर्शाता हुआ।
दूर कर, अति मोह रज यह,
ज्ञानचन्द्र, स्वय उदय हो रहा ।। १०० ।।

(मन्दाक्रान्ता)

ब्राह्मणता के गर्व से एक, त्यागे मद्य दूर से,
अन्य शूद्र मान कर स्व को, डूबे मद्य-पान मे ।
वे दोनो ही एक साथ जन्मे, एक शूद्री-गर्भ से,
यो दोनो ही शूद्र साक्षात्, जाति-भेद भ्रम से भ्रमै ।। १०१ ।।

(उपजाति)

हेतु, स्वभाव, वेदन, आश्रय,
सदा अभेद, न यो कर्म-भेद ।
सो बन्धमार्गाश्रित एक माना,
स्वय समस्त, बध का हो हेतु ।। १०२ ।।

(स्वागता)

सर्व ही, कर्म कहे सर्वज्ञ ने,
बध के, हेतु अभेदरूप से ।
अत: वे, कर्म सब निषध्य हो,
ज्ञान ही, एक कहा मोक्ष-हेतु ।। १०५ ।।

(शिखरिणी)

वर्जें निश्चय ही, शुभ-अशुभ सभी कर्म मुनि,
वर्तते निष्कर्म, तदपि न अशरण वे कभी।
ज्ञान ही ज्ञान में, चरता तब मुनि को शरण,
ज्ञान में लीन वे, करें परमामृत पान स्वय ॥ १०४ ॥

(शिखरिणी)

जभी ये ज्ञानात्मा, भासे ध्रुव अचल ज्ञान होता,
तभी ये शिव का, हेतु क्योंकि शिव तो ये स्वय ही।
ज्ञान से अन्य तो, बन्ध का क्योंकि सो बन्ध स्वय ही,
अत· ज्ञानरूप, होना अनुभव ही विहित है ॥ १०५ ॥

(अनुष्टुभ्)

वृत्ति ज्ञानरूप ये ही, सदा ज्ञानभवन है।
एक आत्म स्वभाव है, ज्ञान ही मोक्ष-हेतु यो ॥ १०६ ॥

(अनुष्टुभ्)

वृत्ति कर्मरूप सो ही, ज्ञानभवन न कभी।
पर द्रव्य स्वभाव है, मोक्ष-हेतु न कर्म यों ॥ १०७ ॥

(अनुष्टुभ्)

आच्छादे मोक्ष-हेतु को, बध तो स्वयमेव है।
मोक्ष हेतु तिरोधायी, कर्म स्वभाव, त्याज्य यो ॥ १०८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मोक्षार्थी को त्याज्य जब सभी यह. कर्म मात्र हो स्वयं,
तो कर्ममात्र त्याग है जहां वहां, पुण्य-पाप द्वैत क्या।
सम्यक्त्वादि निज स्वभाव वृत्ति से, होता हेतु मोक्ष का,
निष्कर्म मे तल्लीन उद्धत रसी, ज्ञान स्वयं दौडता ।। १०९ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

जब तक ज्ञान की कर्म विरति, पूर्ण परिपक्व न,
साथ कहे ज्ञान-कर्म तब तक, तो भी क्षति न जरा।
वहां भी जो अवशभूत कर्म सो, सर्व बन्ध-हेतु है,
मोक्ष-हेतु तो परमज्ञान एक ही, स्वन विमुक्त स्थित ।। ११० ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

तरते वे न कर्ममग्न जन जो, स्व ज्ञान जाने नही,
और वे सदा स्वच्छन्द मन्दोद्यमी, शुष्क ज्ञान मग्न जो।
तरते वे ही विश्व ऊपर सदा, जो ज्ञान होते स्वय,
कर्म नही करे, न होते वश मे, जो कभी प्रमाद के ।। १११ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

भेदोन्माद, भ्रमरस भरा, पी मोह जो नाचता,
सो उन्मूल कर सर्व कर्म, अपनी ही शक्ति से।
ज्ञान ज्योति, चीर मोह तम, अत्यन्त सामर्थ्य से,
लीलामात्र सहज प्रगट, खेलै पूर्ण ज्ञान से ।। ११२ ।।

आस्रव अधिकार

(द्रुतविलम्बित)

अब महामद भरा उन्मत्त जो,
आया हुआ युद्ध क्षेत्र मे आस्रव।
जीत लेता उसे उदार अथाह,
ये दुर्जय ज्ञान वीर महोदय ॥ ११३ ॥

(शालिनी)

राग द्वेष, मोह विन भाव ये,
जीव का है, सभी ज्ञान-निर्वृत्त,
रोकता सर्व द्रव्य कर्मास्रव,
ये अभाव, सर्व भावास्रवो का ॥ ११४ ॥

(उपजाति)

भावास्रव से, हुआ ज्ञानी शून्य,
द्रव्यास्रव से, तो भिन्न स्वय ही।
ज्ञान स्वभाव, सदा एक ज्ञानी,
निरास्रव है, ज्ञायक ही बस ॥ ११५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यागे निशदिन स्व बुद्धि पूर्वक, राग समग्र स्वय,
जीते बारबार अबुद्धिपूर्व भी, स्वशक्ति को स्पर्शता,
सर्व परवृत्ति हो उखाड ज्ञान, ये पूर्ण होता आत्मा,
ज्ञानी हुआ तभी से यह तो है यो, नित्य निरास्रव ही ॥ ११६ ॥

(अनुष्टुभ्)

सर्व ही तो जीवित हैं, द्रव्य-प्रत्यय सतति ।
प्रभु ! निरास्रव कैसे, होय ज्ञानी नित्य ही ।। ११७ ।।

(मालिनी)

यद्यपि न छोडे सत्ता, पूर्व बद्ध प्रत्यय,
द्रव्यरूप उदय भी, समय-समय मे ।
तदपि सर्व राग-द्वेष-मोह शून्यता से,
न अवतरै कदापि, ज्ञानी को कर्म बन्ध ।। ११८ ।।

(अनुष्टुभ्)

राग-द्वेष-विमोह तो, ज्ञानी को सभव नही ।
अत न बन्ध ज्ञानी को, क्योकि वे ही बन्ध-हेतु ।। ११९ ।।

(वसततिलका)

उद्धत बोध चिह्न शुद्ध नय के ग्राही,
एकाग्र आत्मथिरता, जो सदा अभ्यासे ।
रागादिमुक्त चित हो, सतत स्वय वे,
बंध विधुर स्व समयसार को देखे ।। १२० ।।

(वसंततिलका)

फिर शुद्ध नय से जो, प्रच्युत होकर,
रागादि से करे मेल, ज्ञान तज कर,
पूर्व बंधे द्रव्यास्रव, से कर्म-बध वे,
धारैं अवश्य ओ करैं, बहु राग जाल ।। १२१ ।।

(अनुष्टुभ्)

यही है एक तात्पर्य, शुद्ध नय त्याज्य नही ।
इसे अत्यागे बंध न, त्यागे बंधन होय ही ।। १२२ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

आद्यन्त शून्य धीरोदार महिमा, ज्ञान मे बांधे धृति,
शुद्ध नय यह कर्ममूल नाशी, त्यागो कभी न सुधी ।
वे शुद्धस्थ झट समेट स्वमति-बाह्यगामी चक्र को,
देखे पूर्ण एक ज्ञानघन पुंज, शान्त तेज अचल ।। १२३ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

रागादि जो आस्रव सब ही, मेटे झट सर्वत,
नित्योद्योत महा वस्तु कोई, निज मे सभालता ।
अनन्तानन्त स्वरस पूर, सर्व भावों मे भर,
आलोकान्त, अचल, अतुल, ज्ञानोदय हुआ ये ।। १२४ ।।

संवर अधिकार

(शार्दूलविक्रीडित)

जीन अनादि से ही बैरी सवर, आस्रव गर्वी महा,
धिक्कार कर उसे नित्य विजयी, सवर संपादती,
पर रूप से तो भिन्न, नियमित, सम्यक् स्वरूप-स्फुर,
स्व चिद् रस भारपूर्ण ज्ञान-ज्योति, उज्ज्वल हो विस्तरे ।। १२५ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

चिद्रूपता जडरूपता धरै ये, ज्ञान और राग दो,
अन्तर्दारुण करौंत से सर्वत॰ , भेद कर दोनों का ।
निर्मल भेद ज्ञान प्रगटता ये, सन्त हों प्रमुदित,
एक शुद्ध ज्ञानघन पुज स्थित, राग से छूट अब ।। १२६ ।।

(मालिनी)

धारावाही ज्ञान द्वारा, यदि किसी विध भी,
शुद्ध आत्मा का वेदन, निश्चल करे यह ।
तो प्रकट आत्मानन्द, ऐसे निज आत्मा को,
शुद्ध ही प्राप्त करता, रोक पर प्रवृत्ति ।। १२७ ।।

(मालिनी)

भेद विज्ञान बल से, स्व महिमा रत जो,
नियम से करे प्राप्त, वे शुद्धात्म अपना ।
सकल अन्य द्रव्य से, स्थित दूर अचल,
रहते हुए उन्हें हो, अक्षय कर्म मोक्ष ।। १२८ ।।

(उपजाति)

संपादन ये, संवर का साक्षात्,
शुद्धात्म तत्त्व-उपलब्धि से ही,
भेद विज्ञान, से ही हो ये प्राप्ति,
अत्यन्त भाव्य, यो भेदविज्ञान ॥ १२९ ॥

(अनुष्टुभ्)

भजो ये भेद विज्ञान, अटूट धारा रूप से।
तबलौं जबलौं ज्ञान, पर से छूट स्वस्थ हो ॥ १३० ॥

(अनुष्टुभ्)

भेद विज्ञान से हुए, सिद्ध हुए जो कोई भी,
बंधे हैं और जो कोई, सो भी इसके ही बिना ॥ १३१ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

भेद ज्ञान, उछाल-उछाल, शुद्ध तत्त्व प्राप्ति से,
राग-झुंड प्रलय करके, कर्मों के संवर से।
धरता जो परम संतोष, नित्य ज्योति अमल,
ज्ञान एक ज्ञान में नियत, प्रगटा अम्लान ये ॥ १३२ ॥

निर्जरा अधिकार

(शार्दूलविक्रीडित)

रागादि आस्रव रोध से स्वधुरा, धार श्रेष्ठ सवर,
आगामी समस्त ही कर्म अत्यन्त, दूर से रोके खडा।
अब पूर्वबद्ध कर्म दाह हेतु, ये फैलती निर्जरा,
यो ज्ञान ज्योति निरावरण होती, मूर्च्छे न रागादि मे ॥ १३३ ॥

(अनुष्टुभ्)

निश्चय ही ये सामर्थ्य, ज्ञान और वैराग्य की।
कर्म को भोगता भी जो, कर्म से न बधै सुधी ॥ १३४ ॥

(रथोद्धता)

पाता नही, विषय सेवता भी,
विषय के, भोग का स्व फल जो।
ज्ञान वैभव, वैराग्य बल से,
सेवक भी, ये असेवक ही है ॥ १३५ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टि धरै नियम से, ज्ञान-वैराग्य शक्ति,
स्व की प्राप्ति पर-त्याग से ये, भजता स्व वस्तु को।
यह स्व है और यह पर, तत्त्वत भेद जान,
तिष्ठै स्व में, हटता सर्वत:, पर राग-योग से ॥ १३६ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टि, यह स्वय हूँ मैं, मुझे कभी बन्ध न,
फूला मुह, बदन रोमाच, रागी भले आचरें।
धारें यदि उत्कृष्ट समिति, तो भी अभी पापी ही,
आत्मा-अनात्मा ज्ञान रहित, सम्यक्त्व से शून्य वे ॥ १३७ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

अनादि से पर्याय-पर्याय, रागी नित्य मस्त हो,
सोता जहा, सो जानो अपद, अपद अन्ध अरे।
आ आ यहा, पद यही यही, चैतन्य धातु यहा,
शुद्ध शुद्ध, स्वरस पूरित, स्थायीभाव रूप ये ॥ १३८ ॥

(अनुष्टुभ्)

निश्चय एक ही स्वादो, आपदा से शून्य पद।
जिसके स्वाद मात्र से, अन्य भासें अपद ही ॥ १३९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एक ज्ञायक भाव निर्भर महा, स्वाद को ही चाखता,
द्वन्द्वमय स्वाद लेने असमर्थ, स्वात्म-वृत्ति जानता।
आत्मा आत्मानुभव के वश होता, मेटै विशेषोदय,
सामान्य-अभ्यास से सकल ज्ञान, एक रूप वेदता ॥ १४० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्मल-निर्मल स्वय ये उछलें, संवेदन-व्यक्तिया,
पीकर सर्व वस्तु पुज रस जो, हैं मस्त अत्यन्त ही।
जो अभिन्न रस सो ये भगवान, एक भी अनेक हो,
उछलै तरगों से अद्भुत निधि, चैतन्य रत्नाकर ॥ १४१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

क्लेशित हों स्वयं ही दुष्करतर, मोक्षोन्मुख कर्मों से,
महाव्रत तप भार से जो अन्य, भग्नचिर दुखी हों।
साक्षात् मोक्ष यह पद निरामय, संवेद्यमान स्वय,
ज्ञान, ज्ञान गुण बिना किसी विध, प्राप्त कर सके न ॥ १४२ ॥

(द्रुतविलम्बित)

कर्म से तो, यह पद अप्राप्य ही,
सुलभ ही, सहज बोध कला से।
अत इसे, स्व बोधकला बल से,
भजने का, सदा यत्न करो जग ॥ १४३ ॥

(उपजाति)

अचिन्त्य शक्ति, स्वयमेव देव,
चिन्मात्र चिंतामणि आप ही यों।
करे आत्मा से, सर्वार्थ सिद्ध तो,
अन्य परिग्रह से ज्ञानी को क्या ॥ १४४ ॥

(वसंततिलका)

सामान्य से यों सब ही, छोड कर परिग्रह,
सो ही विशेष तजने, अब ये प्रवृत्त।
अज्ञान-नाश इच्छुक, ज्ञानी यह क्योंकि,
हेतु स्व-पर अविवेक का है अज्ञान ॥ १४५ ॥

(स्वागता)

स्व पूर्व, बद्ध कर्मोदय से तो,
ज्ञानी के, उपभोग भी हो यदि।
भले हो, राग के वियोग से तो,
नहीं हो, है परिग्रह भाव सो॥ १४६॥

(स्वागता)

वेद्य वेदक तो चल विभाव,
यों कभी, स्व इष्ट वेदते ही न।
चाहते, न कुछ मुमुक्षु अत,
सभी से, रहैं अति ही विरक्त॥ १४७॥

(स्वागता)

ज्ञानी को, न परिग्रह रूप हो,
कर्म तो, क्योंकि राग-रस नही।
अपुट, वस्त्र मे रग-योग भी,
लोटे ज्यो, बाहर ही, छूता नही॥ १४८॥

(स्वागता)

ज्ञानी तो, क्योंकि स्व रस से ही है,
सर्व ही, राग-रस त्याग-मूर्ति।
यों न हो, सर्व कर्मों से भी लिप्त,
पडा हो, चाहे कर्मों के बीच मे॥ १४९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

जग में जो जिसका स्वभाव जैसा, स्वाधीन है वैसा ही,
उसको पर रूप अन्य कोई तो, न कर सके किंचित् ।
अत ज्ञान, ज्ञान ही सतत होता, अज्ञान तो न कभी,
ज्ञानी ! भोग परापराध जन्य न, बन्ध जग में तुझे।। १५० ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानी ! कभी न योग्य, कर्म करना, किंचित् तो भी तू यदि,
सोचे पर कभी न मेरा मैं बस, भोगूं हा ! दुर्भोगी तू ।
जो कहै उपभोग से न बन्ध तो, क्या न भोगेच्छा तुझे,
ज्ञान हो बस, अन्यथा अवश्य ही, बधेगा स्व-चूक से ।। १५१ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता को नहीं कर्म तो स्वफल मे, जोडे बलपूर्वक,
फल इच्छा से कर्म करता सो ही, पाता है कर्म फल ।
राग रचना अस्त, ज्ञान हो मुनी, कर्म करते भी न,
कर्म से बधें, सर्व कर्म फल के, पूर्ण त्यागशील वे ।। १५२ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्म-फल तजै सो कर्म करता, ये तो मानें न हम,
किन्तु इसके भी कोई कर्म किंचित्, यदि बलात्, आ पडे ।
सो होते भी अकंप परम ज्ञान, स्वभाव में स्थित ये,
ज्ञानी कर्म करता है या करै न, कौन यह जानता ।। १५३ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टि ही ये परम साहस, सम्पन्न होते अहो,
जो वज्रपात मे भी जिस भय से, विश्व भी हिल उठे।
स्वयं निज निर्भय स्वभाव द्वारा, शका तो त्याग सभी,
निज अवध्य ज्ञान-देह लखते, न छूटते ज्ञान से ॥ १५४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये चित् लोक एक शाश्वत सकल, व्यक्त भेद ज्ञानी को,
केवल ये चित् लोक एक लखता, ज्ञानी स्वय ही अहो।
मेरा अन्य न लोक ये या पर तो, भय कहा ज्ञानी को,
यों नि शक सतत स्वयं सहज, ज्ञान सदा वेदै सो ॥ १५५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानी को ध्रुव ज्ञान वेदन स्वय, ये वेदना एक ही,
वेद्य-वेदक अभेदक बल सदा, वेदै अनाकुल वे।
जब अन्यागत वेदना ही न तो, भय कहा ज्ञानी को,
यो नि शंक सतत स्वय सहज, ज्ञानसदा वेदै सो ॥ १५६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

जो है सो न नाश हो यही नियत, प्रगट वस्तुस्थिति,
ज्ञान सत् स्वयमेव अन्य इसकी, रक्षा अरे! क्या करे।
जब यो ज्ञान अत्राण किंचित् न तो, भय कहा ज्ञानी को,
यो नि शक सतत स्वय सहज ज्ञान सदा वेदै सो ॥ १५७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वरूप में न पर प्रवेश हो यों, स्वरूप ही वस्तु की,
परम गुप्ति है और अकृत, ज्ञान आत्मा स्वरूप।
जब यों ज्ञान अगुप्त किंचित् न तो, भय कहां ज्ञानी को,
यों निःशंक सतत स्वयं सहज, ज्ञान सदा वेदै सो॥ १५८॥

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदन मरण जग कहै, आत्मा का तो प्राण ही,
ज्ञान है जो स्वयं ही शाश्वत ये तो, छिद सके न कभी।
जब यो ज्ञान-मरण किंचित् न तो, भय कहा ज्ञानी को,
यों निःशक सतत स्वयं सहज, ज्ञान सदा वेदै सो॥ १५९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये ज्ञान अनादि अनन्त अचल, स्वय ही सिद्ध एक,
जबलौं तबलौं ज्ञान ही सदैव, यहां न अन्योदय।
यो आकस्मिक ज्ञान मे किंचित् न तो, भय कहां ज्ञानी को,
यों निःशंक सतत स्वय सहज, ज्ञान सदा वेदै सो॥ १६०॥

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्ण स्वरसपूरित, ज्ञान सर्वस्व भोगी,
सम्यग्दृष्टि के चिह्न जग में, हनैं कर्म सब।
यों वर्तंते, इसको फिर भी, कर्म-बन्ध जरा न,
पूर्वबद्ध भोग कर्मोदय, अवश्य निर्जरै ही॥ १६१॥

(मन्दाक्रान्ता)

नव बन्ध रोकता यों नाशै, पूर्व बद्ध कर्म जो,
स्व अष्टाग सहित प्रगट, निर्जरा के द्वार से।
सम्यग्दृष्टि स्वयं अति रस आदि मध्यान्त बिन,
ज्ञान होय नभ रगभूमि, व्याप्त हो नाचता॥ १६२॥

बंध अधिकार

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोदय महारस से करके, जग प्रमत्त सभी,
राग रस भरी महा नाट्य-क्रीडा, सो बंध ये खेलता ।
आनन्दामृत नित्य भोजी सहज, दशा नचाता स्पष्ट,
धीरोदार, अनाकुल, निरुपधि, ज्ञान ये हो उदय ॥ १६३ ॥

(पृथ्वी)

न कर्म बहुल लोक, या चलन रूप क्रिया न,
न विविध करण या, चित्-अचित् घात बध-हेतु ।
उपयोग भू आत्मा जो, रागादि से एक होता है,
बन्ध-हेतु एक सो ही, निश्चय से जीवो को होता ॥ १६४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

हो लोक कर्म रज भरा भले ही, हो योग की भी क्रिया,
हों वे करण भी भले ही इसको, हो चित्-अचित् घात भी ।
रागादि न उपयोग भू में लाता, होता मात्र ज्ञान ही,
किसी विधि भी न बधे निश्चित अहो ! सद्दृष्टि ये आत्मा ॥ १६५ ॥

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गल, प्रवर्तन योग्य ज्ञानी को,
निरर्गल प्रवृत्ति तो, वह बन्ध का गेह ही है ।
अनिच्छित कर्म कहे, ज्ञानी के बन्ध-अकारण,
क्या न दोनो विरुद्ध ही, करता और जानता भी ॥ १६६ ॥

(वसंततिलका)

जो जानता, न करता, करता है जो सो,
न जानता, करना तो, कर्मराग ही है ।
राग तो अज्ञरूप, कहा अध्यवसाय,
मिथ्यात्वी को हो निश्चित, और बंध-हेतु ॥ १६७ ॥

(वसंततिलका)

जीवन, मरण सौख्य, दुःख लोक में तो,
सर्व सदा हो निश्चित, स्व कर्मोदय से ।
जीवन-मरण सौख्य, दुःख एक का जो,
अन्य पुरुष से मानै, सो अज्ञान हो है ॥ १६८ ॥

(वसंततिलका)

अज्ञान घार यह जो, एक से पर का,
जीवन, मरण, सौख्य, दुःख मानते हैं ।
अहंकार रस से वे, कर्मों के इच्छुक,
हैं मिथ्यादृष्टि निश्चित, निज आत्म-हना ॥ १६९ ॥

(अनुष्टुभ्)

जो इस मिथ्यादृष्टि का, अध्यवसाय भाव ये ।
सो अज्ञानमय मिथ्या, अतः बन्ध-हेतु इसे ॥ १७० ॥

(अनुष्टुभ्)

व्यर्थ अध्यवसाय ये, इससे हो विमोहित ।
कुछ भी तो नही ऐसा, करै न जैसा आप को ॥ १७१ ॥

(इन्द्रवज्रा)

विश्व से भिन्न, तो भी जिस वश,
आत्मा स्वयं को, विश्व रूप वेदे।
अध्यवसाय-जड़ एक मोह,
जिन्हें नहीं है, वे ही यतीश्वर ॥ १७२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्र अध्यवसाय सर्व ही ये, जिन कहा त्याज्य जो,
इससे मानू मैं पराश्रित सभी, त्याज्य व्यवहार ही।
सम्यक् निश्चय एक ही ये निष्कंप, धारकर क्यों नही,
शुद्ध ज्ञानघन महिमा निज में, सत थिरता करें ॥ १७३ ॥

(उपजाति)

रागादि को जो, कहा बन्ध-हेतु,
चिन्मात्र शुद्ध-ज्योति से भिन्न वे।
आत्मा या अन्य, क्या हेतु उनका,
पूर्व कहा है, तो भी कहें फिर ॥ १७४ ॥

(उपजाति)

आत्मा स्वयं के, रागादि-निमित्त,
हो न कभी भी, यथा सूर्यकांत।
रागादि-हेतु, पर संग ही है,
वस्तु स्वभाव, ये तो प्रगट ही ॥ १७५ ॥

(अनुष्टुभ्)

निज वस्तुस्वभाव यों, ज्ञानी जाने अतः वह,
रागादि न अपनाता, यों कर्ता बनता नहीं ॥ १७६ ॥

(अनुष्टुभ्)

निज वस्तुस्वभाव यों, अज्ञानी नहीं जानता,
अतः रागादि अपनाता, यों कर्ता बनता वही ॥ १७७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

यों चित् और पर द्रव्य सो सभी, भिन्न कर शक्ति से,
परजन्य ये बहुभाव सन्तति, चाहे झट नष्ट हो।
पाता सो आत्मा एक पूर्ण निर्भर, सवेदन युक्त जो,
यों बन्ध-उन्मूलित ये भगवान, आत्मा स्फुरै आप में ॥ १७८ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

कारण जो रागादि-उदय, सो विदार निर्दय,
कार्य रूप विविध बन्ध को, अब हटा शीघ्र ही।
ज्ञान ज्योति तम क्षय कर, भली भांति सजी यों,
अन्य कोई विस्तार जिसका, रोक सकता नही ॥ १७९ ॥

मोक्ष अधिकार

(शिखरिणी)

प्रज्ञा क्रकच से, बिदार दो कर बंध-पुरुष,
करै मोक्ष साक्षात्, पुरुष को अनुभवमात्र जो।
सहज सरस, प्रगट अब परमानन्द से,
श्रेष्ठ पूर्ण ज्ञान, सकल कृतकृत्य विजयी है।। १८० ।।

(स्रगधरा)

यै प्रज्ञा तीक्ष्ण छैनी, सावधान निपुणों ने डाली प्रयत्न से,
जो पैठे शीघ्र सूक्ष्म, अन्तर्संन्धि-बन्ध में, आत्मा-कर्म दोनों के।
करै आत्मा को मग्न, अन्त स्थिर निर्मल चित् तेज पुंज में तो,
बंध को अज्ञान में, निश्चित करती यो, सर्वत. भिन्न भिन्न ।। १८१ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)[1]

स्व लक्षण बल से भेद सबही, जो भी भेद शक्य है,
चिन्मुद्राकित निर्विभाग महिमा, सो शुद्ध चित् ही मैं हूँ।
भेद पडे जो कारकों का अथवा, धर्म और गुणों का,
भले ही पडे किन्तु विभु विशुद्ध, चित् भाव में कोई न ।। १८२ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

जगमें चेतना अद्वैत तो भी जो, दर्श-ज्ञान को तजे,
तो सामान्य-विशेष रूप बिन हो, अस्तित्व ही तजै सो।
इसके त्याग से तो चित् जड हो या, व्याप्य बिन व्यापक,
आत्मा का ही नाश हो अत. निश्चित, दर्श-ज्ञान रूप चित् ।। १८३ ।।

(इन्द्रवज्रा)

चैतन्य का तो, चिन्मय ही एक,
भाव जो अन्य, निश्चय पर के।
यों ग्राह्य भाव, चिन्मय ही एक,
अन्य सभी तो, हेय सर्वथा ही ॥ १८४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

चित्त चरित उदार मोक्षार्थियो, सेओ सिद्धान्त यह,
मैं तो सदैव शुद्ध एक चिन्मय, परम ज्योति ही हूँ।
ये जो विविधभाव होते प्रगट, भिन्न लक्षण सभी,
सो मैं नही हूँ क्योंकि मुझको वे तो, सर्व परद्रव्य हैं ॥ १८५॥

(अनुष्टुभ्)

पर द्रव्य अपनाता, सो अपराधी बंधै ही।
न बंधै निरपराधी, स्वद्रव्य में गुप्त यति ॥ १८६ ॥

(मालिनी)

बन्धै अनन्त कर्म से, सतत सापराध,
निरपराध को कभी, न छूता ही बधन।
ये सापराध निश्चित, भजै अशुद्ध स्व को,
निरपराध रहता, साधु शुद्धात्म सेवी ॥ १८७ ॥

अत· सुखासीन, जो प्रमादी वे तो हत हैं,
चापल्य यों हता, उखाडा है आलबन।
और चित्त बांधा, आत्मा में ही,
सम्पूर्ण विज्ञानघन-प्राप्ति तक ॥ १८८ ॥

(वसंततिलका)

प्रतिक्रमण ही जहां, विष है बताया,
वहां तो सुधा हो कैसे, अप्रतिक्रमण।
तो नीचे नीचे क्यों, जन हो प्रमादी,
क्यों न चढ़ै ऊर्ध्व-ऊर्ध्व, प्रमाद तजता ॥ १८९ ॥

(पृथ्वी)

प्रमाद युक्त आलस्य, कैसे शुद्ध भाव हो क्योंकि,
कषाय भार भारित, आलस्य ही तो प्रमाद है।
अतः स्वरसनिर्भर, स्वभाव में होय निश्चल,
मुनि परम शुद्धता, पाते और शीघ्र ही मोक्ष ॥ १९० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अवश्य अशुद्धिकारी परद्रव्य, छोड़े सभी जो स्वय,
स्वद्रव्य में रति करै सो निश्चित, सर्वापराध च्युत।
नाश बन्ध नित्य उदित निर्मल, उछलै स्वज्योति से,
चैतन्यामृत पूर पूर्ण महिमा, सो शुद्ध हो छूटता ॥ १९१ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

बंध-नाश से मोक्ष वेदता, ये अतुल, अक्षय,
नित्योद्योत सहज प्रगट, एकान्त शुद्ध दशा।
एकाकार स्वरस निर्भर, धीर गम्भीर अति,
पूर्ण ज्ञान प्रगटा अचल, लीन स्व महिमा में ॥ १९२ ॥

सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार

(मन्दाक्रान्ता)

कर सम्यक् प्रलय अखिल, कर्ता-भोक्तादि भाव,
बंध-मोक्ष विकल्प से दूर, वर्तता प्रति पद।
शुद्ध शुद्ध स्वरस विस्तार, पुण्य तेज अचल,
टंकोत्कीर्ण प्रगट महिमा, ये स्फुर ज्ञान पुंज ॥ १६३ ॥

(अनुष्टुभ्)

भोक्तृत्ववत् न कर्तृत्व, स्वभाव इस जीवका।
अज्ञान से ही कर्ता ये, अकर्ता अज्ञान बिन ॥ १६४ ॥

(शिखरिणी)

जीव ये अकर्ता, सिद्ध है यो, जो स्वरस विशुद्ध,
स्फुर चित् ज्योतिया, व्यापे त्रिभुवन-विस्तार सब।
तो भी इसको जो, प्रकृति-बन्ध होता जगत मे,
सो अज्ञान की ही, गहन महिमा कोई विस्फुरे ॥ १६५ ॥

(अनुष्टुभ्)

कहा भोक्ता स्वभाव न, कर्तावत् इस जीव का।
अज्ञान से ही भोक्ता ये, अभोक्ता अज्ञान बिन ॥ १६६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव निरत, वेदक हो नित्य ही,
ज्ञानी तो प्रकृति स्वभाव विरत, वेदक हो न कभी।
ऐसा ही नियम समझ निपुणो, त्याग अज्ञानीपन,
शुद्ध, एक आत्म-तेज में अचल, हो सेओ ज्ञानीपना ॥ १६७ ॥

(वसंततिलका)

ज्ञानी न कर्म करता, और भोगता न,
कर्म स्वभाव को यह, बस जानता ही।
कर्तृत्व, भोक्तृत्व बिन, यो जानता बस,
शुद्ध स्वभाव नियत, यह मुक्त ही है॥ १९८॥

(अनुष्टुभ्)

आत्मा को कर्ता देखें, तिमिरावृत जीव जो।
मुमुक्षु, तो भी मोक्ष न, उन्हें सामान्य लोकवत्॥ १९९॥

(अनुष्टुभ्)

पर द्रव्य-आत्म तत्त्व, दो मे सभी सम्बन्ध न।
कर्ता-कर्म जब यो न, आत्मा कैसे करे फिर॥ २००॥

(वसततिलका)

लोक में एक वस्तु का, अन्य वस्तु साथ,
सम्बन्ध ही जब सभी, कहा है निषिद्ध।
तो कर्तृ-कर्म घटना, भिन्न वस्तु में न,
तत्त्व को हे! मुनि जन, लखो यों अकर्ता॥ २०१॥

(वसन्ततिलका)

जो ये स्वभाव-नियम, नहीं जानते हैं,
अज्ञान-मग्न जिनका, तेज वे बिचारे।
करते हैं कर्म, यों ही,भाव कर्म-कर्ता,
चेतन स्वयं ही होता, नहीं और कोई॥ २०२॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्म-कार्य, सो न अकृत, न जीव-प्रकृति दो की कृति,
क्योंकि अज्ञ प्रकृति भी भोगे फिर, स्वकार्य के फल को।
न एक प्रकृति-कार्य, अचित् सो तो, यों जीव कर्ता बना,
चित् अनुगामी यों जीव का ही कार्य, पुद्गल तो ज्ञाता न ॥ २०३।

(शार्दूलविक्रीडित)

'कर्म ही कर्ता' विचार आत्मघाती, मेट आत्म-कर्तृता,
विराधै अचलित श्रुति कहै जो, कर्ता है स्यात् ये आत्मा।
तीव्र मोह मुद्रित बुद्धि उनके, ज्ञान की संशुद्धि को,
कही जाती वस्तु-स्थिति जो विजयी, स्याद्वाद के आश्रित ॥ २०४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मत मानो पुरुष को अकर्ता तो, सांख्यवत् हे जैनियो,
निश्चय मानो सदैव कर्ता उसे, भेद-ज्ञान पूर्व तो।
आगे उद्धत बोध धाम नियत, स्वय प्रत्यक्ष आत्मा,
देखो ये कर्तृ-भाव शून्य, अचल, एक ज्ञाता परम ॥ २०५ ॥

(मालिनी)

ये आत्म तत्त्व क्षणिक, लोक में मान कोई,
निज मन में धरै सो, कर्ता-भोक्ता का भेद।
हरै विमोह उसका, चित् चमत्कार ही तो,
नित्यतामृत पुंजों से, स्वय सींचता यह ॥ २०६ ॥

(अनुष्टुभ्)

वृत्ति-अंश अति भेद, वृत्तिमान नष्ट मान।
'अन्य कर्ता, भोक्ता अन्य', मत भासो एकान्त यो ॥ २०७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

परिशुद्धात्म इच्छुक अन्ध कोई, काल-उपाधि से भी,
जान आत्मा में अति अशुद्धि माने, दोष अति व्याप्ति का।
यों शुद्ध ऋजुसूत्र छल से मूढ, मान क्षणिक आत्मा,
छोड़ें अहो! वे आत्मा ही हारवत् जो, नि सूत्र मुक्ता चहैं ॥ २०८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता-भोक्ता का भेद हो या अभेद, युक्ति वश भले ही,
अथवा नही हो कर्ता-भोक्ता दोनो, अनुभवो वस्तु ही।
है ज्यो निपुण पिरोई सूत्रमाला, अभेद्य त्यों आत्मा मे,
यह चित् चिन्तामणि माला एक ही, दिपै हमे सर्वत ॥ २०९ ॥

(रथोद्धता)

व्यवहार, दृष्टि से ही केवल,
कर्ता और, कर्म भिन्न दीखते।
निश्चय से, यदि वस्तु देखें तो,
कर्ता-कर्म, सदा एक दीखते ॥ २१० ॥

(नर्दटक)

होय परिणाम ही तो, निश्चय से कर्म यथार्थ,
वह अन्य का न होता, होता है परिणामी का ही।
कर्म नही कर्ता बिना, और वस्तु की भी स्थिति जो,
नही एक रहती यों, वस्तु ही उसकी कर्ता हो ॥ २११ ॥

(पृथ्वी)

प्रगट अनन्त शक्ति, यद्यपि वस्तु है स्वय ही,
तो भी बाहर ही लोटै, न अन्य में अन्य-प्रवेश।
क्योंकि स्वभाव नियत, मानी गयीं वस्तु सब ही,
तो क्यो स्वभाव चलित, आकुल हो मोहित दुखी ।। २१२ ।।

(रथोद्धता)

एक वस्तु, न अन्य की जग मे,
इसीलिए, जो वस्तु सो वस्तु ही।
ये निश्चय, तो एक दूसरी का,
करती क्या, बाहर लोटती भी ।। २१३ ।।

(रथोद्धता)

ये जो माना, वस्तु अन्य वस्तु का,
कुछ करै, परिणमती स्वयं।
व्यवहार दृष्टि से ही माना सो,
निश्चय से, अन्य को न कुछ भी ।। २१४ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्ध द्रव्य निरूपण मति लगी, अनुभवै तत्त्व जो,
एक द्रव्य में कभी न अन्य कोई, द्रव्य-वास देखै सो।
ज्ञान जानता जो ज्ञेय को ये तो है, शुद्ध स्वभावोदय,
तो क्यों पर द्रव्य चुम्बनाकुलधी, लोग हों तत्त्व च्युत ।। २१५ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्ध द्रव्य, स्वभाव से होता, स्वभाव में शेष क्या,
अन्य द्रव्य हो या ये उसका, तो स्वभाव क्या रहा।
भू को करै, चाँदनी उज्ज्वल, चाँदनी की भू न हो,
ज्ञान जानै, ज्ञेय को सदा यो, ज्ञेय ज्ञान का न हो ॥ २१६ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

राग-द्वेष द्वय उदय हो, तभीलौं जबलौ ये,
ज्ञान ज्ञान, न हो और वे भी, ज्ञेय ज्ञेय होय न।
ज्ञान ज्ञान, हो अत यह तो, नाश अज्ञान भाव,
ज्यो विघटैं, भावाभाव दोनो, होय पूर्ण स्वभाव ॥ २१७ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

राग-द्वेष, जग मे ज्ञान ही, हो अज्ञान भाव से,
अन्तर्दृष्टि, वस्तु लखते वे. किंचित् नही दीखते।
सम्यग्दृष्टि, यो तत्त्वदृष्टि से, प्रगट नाशो उन्हें,
ज्ञान ज्योति, जिससे सहज. पूर्ण ध्रुव तेज हो ॥ २१८ ॥

(शालिनी)

राग-द्वेष, कारी तत्त्व दृष्टि से,
अन्य द्रव्य न, दीखते जरा भी।
क्योंकि शोभै, सर्व द्रव्य-उत्पत्ति,
अतिव्यक्त, स्व स्वभाव से अन्त ॥ २१९ ॥

(मालिनी)

इस आत्मा में उपजें, जो राग-द्वेष दोष,
नही उसमे कुछ भी, अन्य द्रव्य का दोष।
ये अज्ञान अपराधी, वहा स्वय प्रसर्पे,
यो ज्ञात हो मिटे यह, अज्ञान मैं तो ज्ञान ॥ २२० ॥

(रथोद्धता)

राग, द्वेष-जन्म के कारण तो,
मानते हैं, पर द्रव्य को ही जो।
शुद्ध ज्ञान, शून्य अन्ध बुद्धि वे,
मोह नदी, तिर ही सके नही ॥ २२१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये पूर्ण, अच्युत, एक, शुद्ध ज्ञान, महिमाधारी बुध,
ज्ञेय जानता न विकृत हो किंचित्, प्रकाश्य से दीप ज्यो।
सो वस्तु-स्थिति ज्ञान से शून्य बुद्धि, यह अज्ञानी अरे,
तज स्व महज उदासीनता क्यो, राग-द्वेषमयी हो ॥ २२२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

राग-द्वेष विभाव मुक्त चित् तेज, स्वभाव स्पर्शी सदा,
भूत-भावी समस्त कर्म रहित, उदय से भिन्न वे।
दृढ आरूढ चरित्र वैभव के, बल से सचेतते,
ज्ञान सचेतना दीप्त चित् ज्योति जो. स्व रस लोक भरें ॥ २२३ ॥

(उपजाति)

ज्ञान के सचेतन से ही नित्य,
ज्ञान प्रकाशै, ये अतीव शुद्ध।
अज्ञान सचेतन से तो बन्ध,
दौडता घातै ज्ञान की शुद्धि को॥ २२४॥

(आर्या)

कृत, कारित, अनुमोदन, मन-वचन-काय से त्रिकाल विषयक।
परित्याग सर्व कर्म, परम निष्कर्मता ग्रहू मैं॥ २२५।

(आर्या)

मोह से किये मैंने, जो कर्म प्रतिक्रमण कर वे सब ही।
नित्य निष्कर्म चेतन, आत्मा में आत्मा से वर्तूं॥ २२६॥

(आर्या)

मोह विलास-विस्तार, यह सब कर्म-उदय आलोचन कर।
नित्य निष्कर्म चेतन, आत्मा मे आत्मा से वर्तूं॥ २२७॥

(आर्या)

भावी कर्म समस्त, प्रत्याख्यान कर हुआ नष्ट मोह।
नित्य निष्कर्म चेतन, आत्मा मे आत्मा से वर्तूं॥ २२८॥

(उपजाति)

त्रिकाल के यो, सभी कर्म त्याग,
मैं अवलम्बी, हूँ शुद्ध नय का।
विलीन मोह, रहित विकार,
चिन्मात्र आत्मा, ध्याता हूं अब मैं॥ २२९॥

(आर्या)

कर्म विष तरु के फल, विगलित हों य बिना भोगे ही मेरे।

सचेतता मैं अचल, चैतन्यमयी आत्मा निज ॥ २३० ॥

(वसततिलका)

निश्शेष कर्म फल यों, सन्यास कर मैं,

सर्व क्रियातर विहार निवृत्त वृत्ति ।

चैतन्य चिह्न स्व तत्त्व, भजूं निरंतर,

ये काल अनन्त बीतो, मेरा अचल यों ॥ २३१ ॥

(वसततिलका)

जो पूर्वभाव कृत कर्म विषद्रुमो के,

भोगे न फल अवश्य, निज से ही तृप्त ।

रमणीय वर्तमान, और रम्य भावी,

निष्कर्म शर्ममय मो, पाता दशातर ॥ २३२ ॥

(स्रग्धरा)

अत्यन्त भा करके, विरति निरतर, कर्म, कर्मफल से,

प्रस्पष्ट नचाकर, प्रलय सर्व ही अज्ञान सचेतना का।

स्वरस परिप्राप्त, स्वभाव पूर्ण कर स्व ज्ञान संचेतना,

सानन्द नचा नचा, प्रशम रस पीओ, अब से सर्वकाल ॥ २३३ ॥

(वंशस्थ)

अब पदार्थ-विस्तार गुंठन की,

कृति बिना एक, अनाकुल दीप्त ।

सर्व वस्तु के, भिन्न निश्चय द्वारा,

विविक्त ज्ञान, तिष्ठता है सुस्थित ॥ २३४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पर से व्यतिरिक्त आत्म नियत, धार भिन्न वस्तुता,
ग्रहण-त्याग शून्य यह अमल, ज्ञान यो स्थित हुआ।
आदि-मध्यान्त भेद मुक्त सहज, प्रभा विस्तृत रवि,
शुद्ध ज्ञानघन महिमा इसकी, ज्यों निष्ठे नित्योदित ॥ --५ ॥

(उपजाति)

जो त्याज्य था सो, त्यागा है सब ही,
आदेय जो सो, ग्रहा है सब हो।
सर्व स्व शक्ति, जिसने समेटी,
पूर्णात्मा का ये, आत्म सधारण ॥ २३६ ॥

(अनुष्टुभ्)

यो परद्रव्य से शून्य, ज्ञान जब व्यवस्थित।
कैसे ज्ञान आहारक, देह-शका ज्यो ज्ञान को ॥ २३७ ॥

(अनुष्टुभ्)

शुद्ध ज्ञान को यो जब, विद्यमान न देह ही।
अतः देहमयी लिंग, मोक्ष-हेतु ज्ञाता को न ॥ २३८ ॥

(अनुष्टुभ्)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्म-तत्त्व त्रयात्मक।
एक ही है सदा सेव्य, मोक्षमार्ग मुमुक्षु को ॥ २३९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

दृग्ज्ञान चारित्रमय नियत ये, एक मोक्षमार्ग जो,
वहा ही स्थिति करै, सतत ध्याता, और चेतता उसे।
उसमे ही विचरै निरन्तर जो, द्रव्यान्तर स्पर्शे न,
सो यह समयसार नित्योदय, शीघ्र वेदै अवश्य ॥ २४० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

इसे तज जो व्यवहार पथ में प्रस्थापित स्वात्म से,
वहन करै द्रव्यलिंग ममता, तत्त्व ज्ञान शून्य वे।
नित्योद्योत, अखड, एक, अतुल, चित् प्रकाश पुंज ये,
अमल समयसार अभी तक, वे नही अनुभवें ॥ २४१ ॥

(इन्द्रवज्रा)

व्यवहार विमूढ़दृष्टि जो,
सो नर परमार्थ जाने नही।
तुष-ज्ञान में विमुग्ध बुद्धि,
तुष जाने जग में न तदुल ॥ २४२ ॥

(स्वागता)

द्रव्यलिंग-ममता भरे अन्य,
वेदते न समयसार को ही।
पर से ही क्योंकि द्रव्यलिंग हो,
लोक में, ये एक ज्ञान ही स्वत: ॥ २४३ ॥

(मालिनी)

बस, बस बहु जल्प, बहु दुर्विकल्पो से,
अनुभव करो नित्य, ये परमार्थ एक।
स्व रस प्रसर पूर्ण, ज्ञान विस्फूर्ति मात्र,
समयसार से उच्च, निश्चित ही कुछ न ॥ २४४ ॥

(अनुष्टुभ्)

अद्वितीय अक्षय ये, जगत चक्षु पूर्ण हो
विज्ञान घनानन्द को, प्रत्यक्ष दर्शाता हुआ ॥ २४५ ॥

(अनुष्टुभ्)

यो इस आत्मा का तत्त्व, ज्ञान मात्र अवस्थित।
अखंड, एक, अचल, स्वसंवेद्य, अबाधित ॥ २४६ ॥

स्याद्वाद अधिकार

(अनुष्टुभ्)

यहा स्याद्वाद शुद्धि को, वस्तु तत्त्व व्यवस्थिति,
उपायोपेय भाव भी, पुन थोडा विचारते ॥ २४७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

वाह्यार्थों ने पीया पूर्ण सो तज स्व-प्रगटता शून्य हो,
विश्रान्त पर रूप मे ही सर्वत पशु-ज्ञान नष्ट हो।
जग में जो तत् सो तत् स्वरूप से यों, जानै स्याद्वादी-ज्ञान,
अति स्पष्ट घन स्वभाव भार से, प्रगटै सम्पूर्ण ये ॥ २४८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्व ज्ञान है यों मान सब लखै, स्व तत्त्व की आशा से,
होकर विश्वमय पशु पशुवत्, स्वच्छन्द चेष्टा करै।
जो है तत् सो पर रूप से न तत् यों, स्याद्वाददर्शी लखै,
वेदै विश्व से भिन्न विश्व निर्मित, अविश्व स्व तत्त्व को ॥ २४९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

वाह्यार्थ ग्रहण स्वभाव पूरित, चारों ओर हों बहु,
ज्ञेयाकारों से खंडित छिन्न सर्वत: टूट पशु नाश हो।
ज्ञान प्रगट सदा एक द्रव्य यों, भेद भ्रम नाशता,
ज्ञान एक अनुभव प्रकाशित, देखें अनेकान्तविद् ॥ २५० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञेयाकार अनेक कलक मान, चित् प्रक्षालन चहै,
एकाकार कामना से वह पशु, वर्जे स्फुट ज्ञान भी।
अनेक तो भी अनेकता ग्रहै न, ज्ञान स्वय स्वच्छ है,
पर्यायो से ज्ञान-अनेकता भज, देखै अनेकान्त विद् ॥ २५१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रत्यक्ष चित्रित स्फुट स्थिर पर द्रव्य के अस्तित्व से,
ठगा पशु नष्ट हो शून्य सर्वत, देखता स्व द्रव्य न।
देख भली भाति स्व द्रव्य-अस्तित्व, स्याद्वादी तो जीता है,
तत्क्षण प्रगट विशुद्ध बोध के, प्रकाश से पूर्ण हो ॥ २५२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मा सर्व द्रव्यमय मान पशु, दुर्वासना दूषित,
स्व द्रव्य भ्रम से पर द्रव्यों मे ही, करता विश्राम सो।
स्याद्वादी तो पर द्रव्य रूप नास्ति, जाने सभी वस्तु में,
यो शुद्ध बोध महिमा निर्मल स्व द्रव्याश्रय ही करै ॥ २५३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्न क्षेत्र ज्ञेय-ज्ञायक नियत, व्यापार निष्ठ आत्मा,
उसे लख वाह्य पडता सर्वत, पशु सदा नष्ट हो।
स्वक्षेत्र अस्ति द्वारा वृत्ति सीमित, स्याद्वाद वेदी तो ये,
तिष्ठै आत्मा में ज्ञेयाकार निश्चित, व्यापार शक्तिधर ॥ २५४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वक्षेत्र-स्थिति हेतु पृथक पर-क्षेत्रस्थ ज्ञेय तजै,
ज्ञेय साथ चिदाकार वम पशु, तुच्छ बन नष्ट हो।
स्याद्वादी तो स्वधाम बसता जान, नास्ति पर क्षेत्र में,
ज्ञेय तजै, तो भी ज्ञेयाकार खीचै, वेदे न यों तुच्छता ॥ २५५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वाश्रित ज्ञेय नाश के समय, ज्ञान का नाश मान,
जाने ज्ञान न कुछ भी अति तुच्छ, बन पशु नष्ट हो।
जान निज काल से आत्म-आस्तिक्य स्याद्वाद वेदी तो ये,
पूर्ण तिष्ठै, बाह्य वस्तु बार-बार, जन्मैं, नशै यद्यपि ॥ २५६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञेयालबन के काल में ही मानै, ज्ञान-सत्त्व यों बहिर्,
ज्ञेयालबन लालची मन भ्रमै, सो पशु यों नष्ट हो।
जान पर काल से आत्म-नास्तित्व, स्याद्वाद वेदो तो ये,
तिष्ठै आत्म-आरूढ, नित्य, सहज, ज्ञान एक पुंज हो ॥ २५७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पर भावो को तो देख विश्रान्त, नित्य बाह्य द्रव्य में,
स्वभाव महिमा में एकान्त जड़, वर्तै पशु नष्ट हो।
नियत स्वभाव-भवन ये ज्ञान, विभक्त हो सर्व से,
स्याद्वादी तो सहज स्वानुभव से श्रद्धा कर नष्ट न ॥ २५८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मा सर्वभाव हो यो मान पशु, शुद्ध स्वभाव च्युत,
नि:शेष सर्वभाव मे हो निर्भय, स्वच्छन्द क्रीडा करै।
परभाव भाव रहित दृग्वंत, निष्कप स्याद्वादी तो,
दृढ आरूढ स्वस्वभाव में रह, विशुद्ध ही शोभता ॥ २५९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

उत्पाद, व्यय चिह्न युक्त ज्ञानांश, प्रवाह अनेकता,
सो आत्मा यों जान अनित्य-भंग में प्राय. पशु नष्ट हो।
स्याद्वादी चिद्वस्तु चैतन्यमय, वेदै नित्य उदित,
टंकोत्कीर्णघन स्वभाव महिमा, ज्ञान रह जीता है ॥ २६० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

टंकोत्कीर्ण विशुद्ध बोध-विस्तार, नित्य आत्म तत्त्व को,
उछलती शुचि चित् वृत्ति से कुछ, भिन्न चाहता पशु।
नित्य ज्ञान, अनित्य वर्तै फिर भी, उज्ज्वल ही वेदता,
स्याद्वादी तो चिद् वस्तु-वृत्ति क्रम से, अनित्यता जानता ॥ २६१ ॥

(अनुष्टुभ्)

यो अज्ञान विमूढों को ज्ञानमात्र आत्म तत्त्व।
प्रकाशता अनेकान्त, स्वयं ही अनुभूत है ॥ २६२ ॥

(अनुष्टुभ्)

यों तत्त्व व्यवस्थिति से, स्व स्थापना करै स्वयं।
अलंघ्य जिनशासन, अनेकान्त व्यवस्थित ॥ २६३ ॥

(वसततिलका)

इत्यादि निज अनेक, शक्ति सुनिर्भर,
ज्ञानमात्रपन तौ भी, न तजै जो भाव।
यों वर्तते क्रमाक्रम, विवर्त अनेक,
सो द्रव्य-पर्यायमयी, चित् वस्तु जग में ॥ २६४ ॥

(वसततिलका)

अनेकान्त दृष्टि से तो, स्वयमेव देख,
वस्तु के तत्त्व की यह, ऐसी व्यवस्थिति।
स्याद्वाद-शुद्धि को अति, पहिचान सन्त,
जिननीति न उलघ, ज्ञान रूप होते ॥ २६५ ॥

(वसततिलका)

कैसे भी मोह तज जो, आश्रय ले निज,
ज्ञान मात्र भाव मय, निष्कप धरा का।
वे साधकत्व धरकर होते हैं सिद्ध,
मूढ तो पा न इसको, लोक में भ्रमते ॥ २६६ ॥

(वसततिलका)

स्याद्वाद कौशल सुनिश्चल सयम से,
ध्याता सतत जो स्वात्मा, एकाग्र होकर।
ज्ञान-क्रिया नय परस्पर तीव्र मैत्री-,
पात्र हो आश्रय करे, इस भू का सो ही ॥ २६७ ॥

(वसततिलका)

चिद्पिंड बेहद विलास विकास-हास,
शुद्ध प्रकाश परिपूर्ण जो सुप्रभात।
आनन्द सुस्थित सदा, ध्रुव एक रूप,
ध्रुव ज्योति आत्मा का ये उदय उसे ही ॥ २६८ ॥

(वसततिलका)

स्याद्वाद दीप्त जगमग ये तेज पुंज,
शुद्ध स्वभाव महिमा, मुझ मे प्रकाशा।
क्या बंध-मोक्ष पथ के, अन्य भावो से तो,
नित्य उदय स्वभाव, एक खिलो यह ॥ २६९ ॥

(वसततिलका)

अनेक स्व शक्ति-पुंजमयी यह आत्मा,
नय-दृष्टि से खंडित, हो नष्ट तत्क्षण।
अत अखंड एक खंड युक्त यद्यपि,
एकान्त शान्त, अचल चिन् प्रकाश हूँ मै ॥ २७० ॥

(शालिनी)

यह भाव, जो 'ज्ञानमात्र' हूँ मैं,
न जानो सो, ज्ञेय के ज्ञान मात्र।
जानो ज्ञेय ज्ञान कल्लोल वर्ते,
ज्ञान-ज्ञेय,-ज्ञातृ वस्तु मात्र मै ॥ २७१ ॥

(पृथ्वी)

कभी तो दीखे मेचक, मेचक-अमेचक कभी,
और कभी अमेचक, यों सहज ही तत्त्व मेरा।
मोहित करै न तो भी, अमल बुद्धियों का मन,
ये परस्पर सुमेल, प्रगट शक्ति-चक्र स्फुर ॥ २७२ ॥

(पृथ्वी)

उधर अनेक रूप, तो नित्य एकता इधर,
उधर क्षण भगुर, सदोदय ध्रुव इधर।
उधर महा विस्तृत, स्वप्रदेशधर इधर,
अहो आत्मा का तो यह, सहज अद्भुत विभव ॥ २७३ ॥

(पृथ्वी)

उधर कषाय क्लेश, तो है शान्तिनाथ इधर,
उधर भव पीडित, तो मुक्ति भी स्पर्शे इधर ।
उधर स्फुरै त्रिजग, तो चित् प्रकाशता इधर,
आत्म स्वभाव महिमा, विजयी परम अद्भुत ॥ २७४ ॥

(मालिनी)

सहज तेज पुंज त्रिलोक मग्न विजयी,
हैं अनेकरूप तो भी, जो एक ही स्वरूप।
स्वरस विसर पूर्ण, अच्छिन्न तत्त्व प्राप्त,
अति नियमित ज्योति, चित् चमत्कार ऐसा ॥ २७५ ॥

(मालिनी)

अचलित चिदात्मा में, आत्मा को आत्मा द्वारा,
निमग्न रखती नित्य, मोह ध्वस्त करके।
ये अमृतचन्द्र ज्योति, उदित, शुभ्र, पूर्ण,
अप्रतिपक्ष स्वभाव, सर्व भांति प्रकाशो ॥ २७६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

जिससे प्रथम तो स्व-पर द्वैत, उससे रूपान्तर,
उससे राग-द्वेष परिग्रहण, जन्मैं क्रिया कारक।
उससे अनुभूति सब क्रिया-फल भोग खिन्न हुई,
सो विज्ञानघन पुंज मग्न अब, ये सभी कुछ भी न ॥ २७७ ॥

(उपजाति)

स्व शक्ति ससूचित वस्तु तत्त्व,
शब्दो ने की ये, व्याख्या समय की।
स्वरूप गुप्त जो अमृतचन्द्र,
सूरि-कर्त्तव्य कुछ भी नहीं है ॥ २७८ ॥

श्री प्रवचनसार कलश

ज्ञान तत्त्व प्रज्ञापन

(मंगलाचरण)

(अनुष्टुभ्)

एक चिद्रूप स्वरूप, सर्व व्यापी परमात्मा।
स्वानुभव प्रसिद्ध जो, ज्ञानानन्दात्म नमूं सो ॥ १ ॥

(अनुष्टुभ्)

महा मोह तम पुंज, जो मेटे लीला मात्र से।
जय हो विश्व प्रकाशी, तेज अनेकान्तमय ॥ २ ॥

(आर्या)

परमानंद सुधारस, पिपासु भव्यों के कल्याण हेतु।
यह तत्त्व की प्रकाशक, प्रवचन सार-टीका होती ॥ ३ ॥

ज्ञान अधिकार

(स्रग्धरा)

जानता युगपत् भी, सम्पूर्ण वर्तमान, भूत भावी जग को,
मोह बिना तो आत्मा, पर रूप होय न, कर्म नष्ट करके।
यों यह ज्ञानमूर्ति, प्रचुर विकसित, स्व ज्ञप्ति विस्तार में,
ज्ञेयाकार त्रिलोक, पृथक अपृथक प्रकाशता मुक्त ही ॥ ४ ॥

शुभ परिणाम अधिकार

(मन्दाक्रान्ता)

आत्मा धर्मरूप हो स्वय यों, पाय शुद्धोपयोग,
नित्यानन्द-प्रसार सरस, ज्ञान तत्त्व विलीन ।
अविचल, अति लीनता से, पाता रत्नदीपवत्,
दीप्त ज्योति, प्रकाश निष्कंप, सहज विलास श्री ।। ५ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

आत्माश्रित, यो ज्ञान तत्त्व को, जानकर यथावत्,
ज्ञान-सिद्धि, प्रशम लक्ष्य से, ज्ञेय तत्त्व अर्थी सो ।
जानै द्रव्य-गुण-पर्याय से, सभी पदार्थों को तो,
ज्यो न होय, किंचित् भी उत्पन्न, मोह अकुर कभी ।। ६ ।।

ज्ञेय तत्त्व प्रज्ञापन

(सामान्य द्रव्य प्रज्ञापन)

(वसततिलका)

पर द्रव्य-भिन्नता से, आत्मा हटा कर,
सामान्य मे किये मग्न, विशेष सब ही ।
यो शुद्धनय ये लूटे, उद्धत मोह श्री,
उत्कट विवेक से तो, किया तत्त्व भिन्न ।। ७ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

यो उच्छेद, पर परिणति, कर्तृ-कर्मादि भेद,
भ्राति को भी नाश अन्त मे तो, पाया शुद्धात्म तत्त्व ।
सो ये आत्मा, चिन्मात्र निर्मल, तेज मे लीन रह,
स्व उद्योत, सहज महिमा, रहे सदा मुक्त ही ।। ८ ।।

(अनुष्टुभ्)

द्रव्य सामान्य विज्ञान से बना गम्भीर मन,
शुरू होता परिज्ञान, आगे द्रव्य विशेष का ॥ ६ ॥

ज्ञान ज्ञेय विभाग अधिकार

(शालिनी)

जैन ज्ञान, ज्ञेय तत्त्व प्रणेता,
हो विशाल, शब्द ब्रह्म-सुलीन।
एक मात्र, शुद्धात्म द्रव्य-वृत्ति,
मुक्त सदा, यो हम तिष्ठते हैं ॥ १० ॥

(शालिनी)

ज्ञेय बना, असीम विश्व शीघ्र,
ज्ञान बना, भेद रूप ज्ञेय को।
आत्मा बना, स्व-पर भासी ज्ञान,
दीप्त होता, ब्रह्म हो शीघ्र आत्मा ॥ ११ ॥

(बसततिलका)

द्रव्यानुसारी चरण, चरणानुसारी,
द्रव्य, परस्पर ये तो, दोनों ही सापेक्ष।
अत: मुमुक्षु आरूढ हों मुक्ति पथ में,
द्रव्य का आश्रय कर, चरणाश्रय या ॥ १२ ॥

चरणानुयोग सूचक चूलिका

(आचरण प्रज्ञापन)

(इन्द्रवज्रा)

द्रव्य-सिद्धि में, चरण की सिद्धि,
द्रव्य की सिद्धि, चरण-सिद्धि मे।
यों जान कर्म-विरक्त अन्य भी,
द्रव्यानुरूप, पालो चरण को ॥ १३ ॥

(वसंततिलका)

कथनीय जो कुछ सो, सब ही कहा है,
इतने मात्र से यहा, यदि चेतै कोई।
वाणी-विस्तार अति हो, तो भी अरे जड,
व्यामोह जाल अति दुस्तर, पार हो न ॥ १४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

यो यह चरण पुराण पुरुष, सेते अति प्रीति से,
जो उत्सर्ग-अपवाद रूप पृथक, धारै बहु भूमिका।
सोपाय, अतुल निवृत्ति क्रमश, कर यति सर्वत,
चित् सामान्य-विशेष भासी निज द्रव्य में स्थिति करो ॥ १५ ॥

मोक्ष मार्ग प्रज्ञापन

(शार्दूलविक्रीडित)

वक्ता के अभिप्रायवश से तो यों, एक भी हो अनेक,
त्रिलक्षणमय फिर भी एक है, मार्ग यह मोक्ष का।
ज्ञाताद्रष्टा मे बाध वृत्ति अचल, मार्ग सेओ जगत,
चेतन उल्लास-अतुल विकास, ज्यों प्राप्त हो शीघ्र ही ॥ १६ ॥

शुभोपयोग प्रज्ञापन

(शार्दूलविक्रीडित)

धार यों शुभोपयोग जन्य किंचित्, प्रवृत्ति तो वे यति,
सम्यक् संयम-श्रेष्ठता से परम, निवृत्ति ले क्रम से ।
जाने लीला से वस्तु-विस्तार सब, जिसका रम्योदय,
सो शाश्वत ज्ञानानन्दमय दशा, सर्वथा अनुभवो ।। १७ ।।

पंचरत्न प्रज्ञापन

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रवचनसार शास्त्र चूडामणि, पंचरत्न निर्मल,
जयवंतो ये पंच सूत्र सब ही, जो प्रकाशे सर्वत: ।
प्रभु अर्हंत-अद्वितीय शासन, सब ही संक्षेप से,
दर्शाते हुए जग को भिन्न पंथी, संसार-मोक्ष स्थिति ।। १८ ।।

परिशिष्ट

(शालिनी)

यो स्यात् श्री-निवास नय ओघ से,
देखें जीव, या प्रमाण से भी जो ।
तो देखें ही, स्पष्ट अनन्तधर्मी,
स्वात्म द्रव्य, शुद्ध चिन्मात्र अन्त: ।। १९ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

आनन्दामृत पूर पूर्ण बहती, कैवल्य की नदी में,
निर्मग्न, मुख्य महा संवेदन-श्री, जो जग दर्श क्षम ।
स्यात्कार चिह्न जिन शासन वश, जग ग्रहो तत्त्व स्व,
जो स्पष्ट, श्रेष्ठ रत्न किरण सम, इष्ट, उल्लसित है ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मा सहित विश्व व्याख्येय, व्याख्या है, वाणी का गुंथन,
व्याख्याता तो अमृतचन्द्र सूरि यों, मोही जन नाचो न ।
नाचो अभी अव्याकुल स्व तत्त्व पा, ये एक सर्व ध्रुव,
स्याद्‌वाद विद्या के बल से विशुद्ध, ज्ञान कला द्वार से ॥ २० ॥

(मालिनी)

इस भांति जोर से जो, थोडा बहुत तत्त्व,
कहा सो सब ही स्वाहा, चित् अग्नि मे नहीवत् ।
अभी उग्र अनुभवो, यह चित् देव क्योंकि,
जग में न अन्य किंचित्, चित् एक श्रेष्ठ तत्त्व ॥ २१ ॥

श्री पंचास्तिकाय संग्रह कलश

(अनुष्टुभ्)

सहजानन्द चैतन्य, प्रकाश से महान जो।
महिमा अनेकान्तस्थ, सो परमात्मा मैं नमू ॥ १ ॥

(अनुष्टुभ्)

दुर्निवार नय पुंज, विरोध ध्वंसी औषधि।
जयवतो स्यात्‌जीवी जो, जैनी सिद्धात पद्धति ॥ २ ॥

(अनुष्टुभ्)

सम्यग्ज्ञान शुद्ध ज्योति-माता द्विनय आश्रिता।
आगे समय व्याख्या ये, कही जाती सक्षेप मे ॥ ३ ॥

(अनुष्टुभ्)

पचास्तिकाय षट् द्रव्य, रूप से की प्ररूपणा।
विश्व मूल पदार्थों को, सूत्र कर्ता ने प्रथम ॥ ४ ॥

(अनुष्टुभ्)

जीवाजीव दो की फिर, पर्याय नौ पदार्थ जो।
भिन्न-भिन्न पथ गामी, व्यवस्था उनकी कही ॥ ५ ॥

(अनुष्टुभ्)

फिर तत्त्व परिज्ञान, पूर्वक त्रिरत्नमय।
मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति, कल्याणी उत्तम कही ॥ ६ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

द्रव्य स्वरूप, प्रतिपादन से,
कहा बुधों को, यह शुद्ध तत्त्व ।
पदार्थ-भेद, उपोद्घात कर,
इसका मार्ग-वर्णन हो अब ॥ ७ ॥

(उपजाति)

स्वशक्ति संसूचित वस्तु तत्त्व,
शब्दों ने की ये, व्याख्या समय की ।
स्वरूप गुप्त जो अमृतचन्द्र,
सूरि-कर्त्तव्य, कुछ भी नहीं है ॥ ८ ॥

श्री नियमसार कलश

जीव अधिकार

(मालिनी)

तूं परमात्म प्रत्यक्ष, तो पूजूं क्यों मुझवत्,
मोहमुग्ध, कामवश, बुद्ध-केशादि को मैं।
नमूं मैं तो जितभव, श्री जिन अरविन्द,
सुगत, गिरिधर या, कहो शिव, वाग्धीश ॥ १ ॥

(अनुष्टुभ्)

वाक् सयमी जिनेन्द्रों का, मुख कमल वाहन।
दो नय से कहै सर्व, सो जिनवाणी मैं नमूं ॥ २ ॥

(शालिनी)

सिद्धसेन, सिद्धान्त श्रीपति को।
अकलक, तर्क पद्मरवि को ॥
पूज्यपाद, शब्द सिन्धु चन्द्र को।
वीरनंदि, त्रिविद्यापति नमूं ॥ ३ ॥

(अनुष्टुभ्)

भव्य जीवो के मोक्षार्थ, और निजात्म शुद्धि को।
कहूँ नियमसार की, टीका 'तात्पर्य वृत्ति' ये ॥ ४ ॥

(आर्या)

गुणपुंज गणधर रचित, श्रुतधर परम्परा से सुप्रगट ये।
परमागम अर्थ-पुंज, कहने को कौन हम मंद ॥ ५ ॥

(अनुष्टुभ्)

अब मेरे उर अति, प्रेरित ये पुन पुनः ।
शास्त्र-सार रुचि पुष्ट, इससे टीका हो रही ॥ ६ ॥

(अनुष्टुभ्)

पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ ।
सूत्रकर्ता कहा पूर्व, प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया ॥ ७ ॥

(मालिनी)

जग जयवत, शुद्ध भाव से मार काम,
पूर्ण बोध एक राज्य, त्रिजग पूज्य वीर ।
नष्ट जन्म-तरु, बीज, नत देव समाज,
बसै समवसरण, केवल श्री-निवास ॥ ८ ॥

(पृथ्वी)

कभी तो कामिनी-रति-सौख्य मे जन मग्न हो,
कभी द्रव्य-रक्षण मे, भ्रमाता वह स्व बुद्धि को ।
कभी जिनवर मार्ग, प्राप्त कर पडित कोई,
निजात्मा मे रमे सो ही, प्राप्त करता यह मुक्ति ॥ ९ ॥

(आर्या)

यों विपरीत रहित यह, सर्वोत्तम रत्नत्रय प्राप्त कर मैं ।
अपुनर्भव रमा जन्य, अनंग सुख को भोगता हूँ ॥ १० ॥

(मन्दाक्रान्ता)

मोक्ष - हेतु होता मुनियों को, शुद्ध रत्नत्रयात्मा,
आत्मा ज्ञान, ज्ञान अन्य नही, दृष्टि भी अन्य नही ।
चारित्र भी, न अन्य कुछ है, मोक्षगामी यों कहा,
सो जान मातगर्भ में फिर, आवे न सो भव्य है ॥ ११ ॥

(आर्या)

भव भय भेदी भगवान, क्या इनमें भक्ति नही है तेरी ।
तो तू भवदधि माँही, मगर-मुख बीच मे पडा है ॥ १२ ॥

(मालिनी) (श्री विद्यानन्दि स्वामी)

इष्ट फल निर्वाण का, है उपाय सुबोध,
सो है सत्शास्त्र जनित, जो आप्त से उत्पन्न ।
अत· इष्ट फल हेतु, वे सुबुधों के पूज्य,
कृत उपकार क्योंकि, साधु तो भूलते न ॥

(मालिनी)

शत इन्द्र पूज्य जो हैं, महा सद्बोध राज्य,
दुष्ट अघ पु ज नाशी, कामजित् देव स्वामी ।
कृष्ण जिनको नमते, भव्य पद्मों के सूर्य,
वे आनन्द धाम नेमि, हमें सुख सदा दें ॥ १३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित) (श्री समयसार कलश २४)

कान्ति से शुचि करे जो दशदिश, निस्तेज स्व तेज से,
कोटि सूर्य प्रताप क्षण में, जन-मनहरे रूप से ।
अहो ! दिव्य ध्वनि श्रवण सुख की साक्षात्अमृत झडी,
लक्षण एक हजार आठ धारी, वद्य तीर्थेश, सूरि ॥

(मालिनी)

ज्ञान मे जिसके नित्य, ये भासे लोकालोक,
कमल मे भ्रमरवत्, दिखै स्पष्ट अन्दर।
मैं नमू सो ही निश्चय, नेमि तीर्थंकरेश,
तरगोच्च भवोदधि, ज्यो तिरू दो भुजा से ॥ १४ ॥

(आर्या) (श्री रत्नकरड श्रावकाचार श्लोक ४२)

न्यूनता-अधिकता बिन, विपरीतता बिना ज्यों का त्यो जो।
नि सदेह जानता, सो ज्ञान कहा आगमविद् का ॥

(हरिणी)

ललित ललित, शुद्ध निर्वाण कारण-कारण,
सभी भव्यो के ये, कर्णामृत, जिन सद्वचन हैं।
जो भव भव की वनाग्नि के प्रशम हेतु जल,
नमू प्रतिदिन, सदा वद्य, जो जैनयोगियों के ॥ १५ ॥

(मालिनी)

यो जिनपति पथ के सिन्धु मध्य में स्थित,
तेज अम्बार किरण, यह षट् द्रव्य रत्न।
इसे तीक्ष्ण बुद्धि उर, धारे जो भूषणार्थ,
सो मुक्ति श्री कामिनी का, प्रिय कान्त बनता ॥ १६ ॥

(मालिनी)

यों जिनकथित सर्व, ज्ञान के भेद जान,
जो पर भाव तजता, स्व स्वरूप मे स्थित।
पैठे झट आत्मा में जो चित् चमत्कार मात्र,
सो मुक्ति श्री कामिनी का, प्रिय कान्त बनता ॥ १७ ॥

(मालिनी)

यों कथित भेद ज्ञान, ये पाकरके भव्य,
अत्यन्त परिहरो वे, घोर संसार मूल।
शुभ या अशुभ सब सुख-दुख यों जीव,
उनसे पार समग्र, ध्रुव सुख को पाता ॥ १८ ॥

(अनुष्टुभ्)

परिग्रह-हठ त्याग, कर उपेक्षा देह की।
अव्यग्र चिन्मात्र देही, निजात्मा भाओ सुबुध ॥ १९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्व राग शुभाशुभ विलय से, मोह निर्मूल कर,
द्वेष जल से पूर्ण मनघट के प्रध्वस से पावन।
ज्ञान ज्योति सर्व श्रेष्ठ निरुपधि, प्रगटे नित्योदित,
भेद ज्ञान वृक्ष-सत्फल ये वंद्य, जगत को मंगल ॥ २० ॥

(मन्दाक्रान्ता)

पूर्ण मोक्ष में सहज ज्ञान, जयवत सौख्य में,
निर्व्याबाध जो सहज दशा स्फुटित अन्तर्मुख।
लीन स्व सहज खिलते चित् चमत्कार मात्र मे,
स्व ज्योति से तमवृत्ति नष्ट ज्ञान नित्याभिराम ॥ २१ ॥

(अनुष्टुभ्)

सहज ज्ञान साम्राज्य, सर्वस्व शुद्ध चिन्मयी।
जान ऐसा निजात्मा ये, निर्विकल्प होता हूँ मैं ॥ २२ ॥

(इन्द्रवज्रा)

दृग्ज्ञान वृत्ति मय एक ही ये,
चैतन्य सामान्य निजात्म तत्त्व ।
मुमुक्षु का ये, मार्ग प्रसिद्ध है,
मोक्ष कभी न, इस मार्ग बिना ॥ २३ ॥

(मालिनी)

हो परभाव भी यदि, तो भी शुद्धात्म एक,
सहज गुण मणियो की खान पूर्ण बोध ।
भजता जो तीक्ष्ण बुद्धि, पुरुष शुद्ध दृष्टि,
सो मुक्ति श्री कामिनी का प्रिय कात बनता ॥ २४ ॥

(मालिनी)

यों परगुण पर्याय, हों तो भी उत्तमों के,
बसै विशद हृदयसर में कारणात्मा ।
भज शीघ्र तू भजे जो, समयसार स्वोत्थ,
जो परम ब्रह्मरूप, भव्य शार्दूल! तू है ॥ २५ ॥

(पृथ्वी)

कभी तो दीखें सद्गुण, कभी अशुद्ध गुण रूप,
कभी सहज पर्याय, कभी अशुद्ध पर्यायों से ।
इनसे सनाथ तो भी, सर्व-अनाथ जीव तत्त्व,
ये मैं सदा नमूं, भाऊं, सकल अर्थ सिद्धि-हेतु ॥ २६ ॥

(मालिनी)

बहु विभाव होते भी, ये शुद्ध दृष्टि धारी,
सहज परम तत्त्व अभ्यास निपुणधी ।
समयसार से अन्य, न कुछ मान शीघ्र,
सो मुक्ति श्री कामिनी का प्रिय कात बनता ।। २७ ।।

(मन्दाक्रान्ता)

दैव वश, स्वर्ग या ये नर, विद्याधर लोक में,
ज्योतिर्लोक, नागेन्द्र पुर या, नारकी निवास में ।
अन्य कही या जिनसभा मे, हो नही कर्मोदय,
फिर फिर पाद पद्म-भक्ति, मुझको हो आपकी ।। २८ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

नाना भाति नराधिनाथ वैभव, सुन और देख तू,
क्यों यहा व्यर्थ क्लेश भोगे जडधी, पुण्यार्जित भोग वे ।
सो शक्ति जिन पाद पद्म युग्म की, भक्ति मे विराजती,
जो तुझको यह भक्ति हो तो नाना, भोग मिलें वे तुझे ।। २९ ।।

(मालिनी)

स्व राग-द्वेष-मोह युक्त होते हुए भी,
परमगुरु द्विपाद पद्म-सेवा प्रसाद ।
जो सहज निर्विकल्प समयसार जाने,
सो मुक्ति श्री कामिनी का प्रिय कान्त बनता ।। ३० ।।

(अनुष्टुभ्)

भाव कर्म-निरोध से, द्रव्य कर्म-निरोध हो।
द्रव्य कर्म-निरोध से, निरोध हो ससार का ॥ ३१ ॥

(वसततिलका)

संज्ञान भाव परिमुक्त विमुग्ध जीव,
कर्म अनेक विध सो, करै शुभाशुभ।
निर्मुक्ति मार्ग अणु भी, चाहना न जानै,
है न शरण उसको, सर्व जगत में ॥ ३२ ॥

(वसंततिलका)

जो भव्य त्यागै कर्मज सुख पुंज सर्व,
निष्कर्म सुख पुंज के अमृतसर में।
अत्यन्त निमग्न सो चिन्मय एक रूप,
निजभाव अद्वितीय, उसको है पाता ॥ ३३ ॥

(मालिनी)

ये असत् सब विभाव, न चिन्ता करै हम,
सतत वेदै हम तो, शुद्ध आत्मा ही एक।
उर कमल सस्थित, सर्व कर्म प्रमुक्त,
क्योंकि नही नही मुक्ति, अन्यथा कोई भाति ॥ ३४ ॥

(मालिनी)

भववासी भवगुण, सिद्ध जीव तो नित्य,
धरै सिद्धिसिद्ध निज, परम गुण सर्व ।
ये व्यवहारनय है, निश्चय से नहीं ही,
मुक्ति और भववास, ये निर्णय बुधों का ॥ ३५ ॥

(मालिनी) (श्री समयसार कलश ४)

द्विनय विरोध ध्वंसी, स्याद् पद विभूषित,
रमें जिनवचन मे, स्वयं मोह वम जो।
लखें झट अवश्य वे, समयसार-ज्योति,
परम, उच्च, अनव, अनय-अखंडित ॥

(मालिनी)

न लाघ द्विनय युक्ति, परम जिन के जो,
पाद पद्म युगल के मत्त भ्रमर संश।
सो ध्रुव समयसार, शीघ्र प्राप्त करते,
लोक के परमतों से, क्या लाभ सज्जनो को॥ ३६॥

अजीव अधिकार

(अनुष्टुभ्)

गलन से अणु कहा, पूरण से 'स्कन्ध' नाम।

बिना इस पदार्थ के, लोकयात्रा न वर्तती ॥ ३७ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री मार्ग प्रकाश)

स्थूलस्थूल फिर स्थूल, और फिर स्थूलसूक्ष्म।

सूक्ष्मस्थूल फिर सूक्ष्म, और फिर सूक्ष्मसूक्ष्म ॥

(वसंततिलका) (श्री समयसार कलश ४४)

अविवेक का अनादि, वह नृत्य भारी,

वर्णादि पुद्गल ही वहा नाचे न जीव।

चैतन्य धातु प्रतिमा, यह जीव हू मैं,

रागादि पुद्गल विकार से शून्य, शुद्ध ॥

(मालिनी)

यो बहुभाति पुद्गल, जो तुझे दृश्यमान,

उसमें न रति कर, अहो भव्य-शार्दूल।

चित् चमत्कारमात्र में, उत्कृष्ट रति कर,

यों मुक्ति श्री कामिनी का, तू प्रियकात होगा ॥ ३८ ॥

(अनुष्टुम्)

स्कंध षट्प्रकार अणु, चार भांति वे मेरे क्या,
मैं तो फिर फिर भाऊं, अक्षय निज शुद्धात्मा ॥ ३९ ॥

(अनुष्टुम्)

जडात्मक पुद्गल की, स्व में ही जान स्थिति।
तिष्ठें क्यों न फिर सिद्ध, स्व चिदात्म स्वरूप में ॥ ४० ॥

(अनुष्टुम्) (श्री मार्ग प्रकाश)

परमाणु के अष्टधा, अन्तिम चार स्पर्शों में।
दो स्पर्श, एक वर्ण, गंध, रस जानो अन्य न ॥

(मालिनी)

जो परमाणु तो एक, वर्णादि रूप भासै,
स्व गुणपुंज मग्न तो, न मेरी कार्यसिद्धि।
यो मान स्व हृदय मे, शुद्धात्मा को ही एक,
परम सुख पदार्थी, भजो भव्य जगत ॥ ४१ ॥

(मालिनी)

पर परिणति शून्य, शुद्ध पर्याय रूप,
परमाणु में नही है, स्कंध पर्याय शब्द।
भगवान जिनेन्द्र में, कामवार्ता नहीं ज्यों,
त्यो परमाणु भी यह, शब्द शून्य सदैव ॥ ४२ ॥

(अनुष्टुभ्)

यो जिनमार्ग से जान, तत्त्व-अर्थ समूह,
तजो अशेष पर जो, चेतन-अचेतन ।
निर्विकल्प ध्यान द्वारा, भजो अन्तरग मे,
परशून्य तत्त्व श्रेष्ठ, चित् चमत्कार मात्र ॥ ४३ ॥

(अनुष्टुभ्)

जीव चित् जड पुद्गल, ऐसी जो हो ये कल्पना ।
सो भी प्राथमिकों को ही, निष्पन्न योगियो को न ॥ ४४ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

पुद्गल काय, चित्शून्य इसमे,
या चिन्मूर्ति परमात्म तत्त्व मे ।
न द्वेष भाव, न हो राग भाव,
शुद्ध दशा हो, यतियो की ऐसी ॥ ४५ ॥

(मालिनी)

है गमन-हेतु धर्म, स्थिति-हेतु अधर्म,
वह आकाश सबको, स्थान दान में दक्ष ।
जानकर वे सभी यो, द्रव्यरूप से सम्यक्,
निजात्म तत्त्व मे पैठो, सर्वदा भव्यलोक ॥ ४६ ॥

(मालिनी)

समय, निमेष, काष्ठा, कला, घडी, इत्यादि,
दिन रात्रि के भेदो से, उत्पन्न है ये काल ।
उस काल से न किंचित्, है मेरा प्रयोजन,
त्याग निज शुद्ध एक, ये निरुपम तत्त्व ॥ ४७ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री मार्ग प्रकाश)

काल बिना पदार्थों का न परिणाम यों फिर।
न द्रव्य, न पर्याय भी, सर्वाभाव-प्रसंग हो ॥

(अनुष्टुभ्)

काल है वर्तना हेतु, कुभकार के चक्रवत्।
पांच अस्तिकायो का तो, अन्यथा वर्तन ही न ॥ ४८ ॥

(अनुष्टुभ्)

सिद्धान्त मार्ग से सिद्ध, जीव-पुद्गल राशि ये,
धर्माधर्म, नभ, काल, प्रतीति-गम्य है सभी ॥ ४९ ॥

(मालिनी)

यों विस्तार से हुआ जो, षट् द्रव्य का ये स्पष्ट,
विवरण अति रम्य, भव्य कर्णामृत सो।
जिनमुनियो को देता, यह चित्त-प्रमोद,
सो भव विमुक्ति-हेतु, भव्यों को सर्वदा हो ॥ ५० ॥

(आर्या)

यों जिनमार्ग सिन्धु से, निकाली प्रीति से पूर्व आचार्य।
ये षट्द्रव्य रत्नमाला, भव्यों के कंठाभरण-हेतु ॥ ५१ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थ रत्नाभूषण मुझसे,
हुआ मुमुक्षु-कठ भूषणार्थ ।
जानकर यों, व्यवहार मार्ग,
धीमान जानें, शुद्ध मार्ग को भी ॥ ५२ ॥

(मालिनी)

जिस भव्योत्तम के तो, मुखारविन्द में यों,
ललित पदो की पक्ति, सदैव शोभती है ।
उस तीक्ष्ण बुद्धि के जो, समयसार शीघ्र,
हृदय में प्रकाशे तो, क्या आश्चर्य इसमे ॥ ५३ ॥

शुद्ध भाव अधिकार

(मालिनी)

सर्व तत्वों में एक ये, समयसार सार,
दूर सर्व विलय से, हत काम दुर्वार ।
पाप तरु को कुठार, शुद्ध बोधावतार,
सुख-सिंधु जयवंत, दुःख-समुद्र पार ॥ ५४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

चैतन्यामृत पूर पूर्ण आतम, प्रीति-अप्रीति बिना,
ध्रुव पद स्थित, अकृत नभवत्, निःशेष अन्तर्मुख ।
निर्भेद प्रगट सौख्य निर्मित ये, जाने जो आत्मार्थी हैं,
इसमें क्यों न रुचि करै तू चाहै, लोकसुख दुष्कृत ॥ ५५ ॥

(मालिनी) (श्री समयसार कलश ११)

तरे जहा प्रगट हो, बद्ध स्पृष्टादि भाव,
रहैं किन्तु ऊपर ही, वे न पाते प्रतिष्ठा ।
अनुभवो सर्व लोक, मोह छोड़ करके,
उद्योत सब प्रकार, यह सम्यक् स्वभाव ॥

(अनुष्टुभ्)

नित्य शुद्ध चिदानन्द, श्रेष्ठ सम्पदा गेह जो ।
विपदा से अति शून्य, चेतूं यही स्वपद मैं ॥ ५६ ॥

(वसंततिलका)

सब कर्म विष वृक्ष उत्पन्न फल सो,
निजरूप से विरुद्ध, उनको तजें जो।
भोगें सहज चिन्मय, अभी आत्म तत्त्व,
पाता सो शीघ्र शिवश्री, इसमें क्या संशय ॥ ५७ ॥

(आर्या)

पंचाचार संयुक्त, किंचित् भी भाव प्रपंच परिहीन।
वे बुध पंचम भाव, भजें पूज्य पंचम गति हेतु ॥ ५८ ॥

(मालिनी)

भोगियों का भोगमूल, शुभ कर्म भी सब,
तजो हे परम तत्त्व-अभ्यास दक्ष चित्।
भवमुक्ति को मुनीश, सार तत्त्व स्वरूप,
उभय समयसार, भजो ! यहां क्या दोष ॥ ५९ ॥

(मालिनी) (श्री समयसार कलश ३५)

चित् शक्तिरिक्त सबही, तज मूल से झट,
चित्शक्ति मात्र निज को, धार प्रत्यक्ष ही।
जो चरे विश्व ऊपर, यह साक्षात् सुन्दर,
वेद आत्मा को आत्मा में, अनन्त परमात्मा ॥

(अनुष्टुप्) (श्री समयसार कलश ३६)

चित् शक्ति व्याप्त सर्वस्व, सार जीव इतना ही।
चित् शक्ति रिक्त सबही, भाव साक्षात् पौद्गलिक ॥

(मालिनी)

अनवरत अखंड ज्ञान-सद्भाव आत्मा,
घोर संसृति-विकल्प, नही प्राप्त करता ।
निर्विकल्प समाधि मे, ये अतुल निष्पाप,
परपरिणतिशून्य, चिन्मात्र आत्मा भोगै ॥ ६० ॥

(स्रग्धरा)

भक्ति नत सुरेन्द्र मुकुट रत्नमाल, प्रगट पूज्यपाद,
वीर तीर्थेश का यो, जन्म-मरण-जरा हारी उपदेश पा ।
दुरित पाप रूप तिमिर पुज के जो विध्वंस मे प्रवीण,
ये सन्त झट पाते, भवसमुद्र छोर, सत्शील पोत द्वारा ॥ ६१ ॥

(मालिनी) (श्री योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति श्लोक ५७)

स्वर समूह विसर्ग, व्यजनादि अक्षर,
रहित, अहित शून्य, शाश्वत, संख्या मुक्त ।
स्पर्श-रस-गन्ध-रूप, तम शून्य, न वायु,
पृथ्वी, जलाग्नि के अण, न स्थूल दिक्चक्र ॥

(मालिनी)

दुष्पाप वन, कुठार, दुष्ट कर्मों से पार,
पर परिणति दूर, हृत रागाब्धि पूर ।
सत्य सुख सिन्धु नीर, हृत नाना विकार,
समयसार निष्काम, बचाओ मुझे झट ॥ ६२ ॥

(मालिनी)

तत्त्व ज्ञानी पद्मप्रभ मुनि चित्त कमल,
सस्थित परम तत्त्व, जयवंत निमल ।
हत विविध विकल्प, कल्पना मात्र रम्य,
भव भव सुख दुख-शून्य जो कहा बुध ॥ ६३ ॥

(मालिनी)

जो भव्यता प्रेरितात्मा, सो भव भजनार्थ,
भजो सतत अतुल, बोध आधीन आत्मा ।
सहज गुण मणि की खान जो तत्त्वसार,
मग्न सुख सिन्धु मे जो, निज परिणति के ॥ ६४ ॥

(द्रुतविलंबित)

भवभोग पराङमुख हे ! यति तू,
निजात्मा मे, तल्लीन बुद्धि भज तू ।
पद यही, भव हेतु विनाशक,
चिन्ता से क्या, अध्रुव वस्तु की तुझे ॥ ६५ ॥

(द्रूतविलबित)

समयसार, अच्युत, अनाकुल,
जन्म, मृत्यु, रोगादि से रहित ये ।
सहज निर्मल सुखामृतमयी,
पूजू सदा, मैं समरसी भाव से ॥ ६६ ॥

(इन्द्रवज्रा)

पूर्व कहा यों, स्वज्ञ सूत्रकर्ता,
निज आत्मा का, तत्त्व विशुद्ध ये।
पाते हैं मुक्ति, जिसे जान भव्य,
सो ही मैं भाऊ, उत्तम सुखार्थ ॥ ६७ ॥

(बसततिलका)

परमात्म तत्त्व निर्दोष न आदि अन्त,
निर्द्वंद्व अक्षय महा, वर बोध रूप।
जो भव्य लोक जग मे, भाते हैं इसको,
भव जन्य दुःख मुक्त, सिद्धि को वे पाते ॥ ६८ ॥

(मदाक्रान्ता)

यो उच्छेद, पर परिणति, कर्तृ-कर्मादि भेद,
भ्राति को भी नाश अन्त मे तो, पाया शुद्धात्म तत्त्व।
सो ये आत्मा, चिन्मात्र निर्मल, तेज मे लीन रह,
स्व उद्योत, सहज महिमा, रहे सदा मुक्त ही ॥

(मदाक्रान्ता)

ज्ञान ज्योति से किया विनाश, पाप तम पुज का,
नित्यानन्दादि श्रेष्ठ महिमा, जो अमूर्त सर्वदा।
निज में ही, अति अचल यों, श्रेष्ठ शील-मूल जो,
वन्दू इस भव भयहारी, मुक्तिश्री-महेश को ॥ ६९ ॥

(मन्दाक्रान्ता) (श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका-एकत्व सप्तति श्लोक ७९)

चित् भिन्न, भिन्न कर्म अनुचर, और दोनों की जो,
निकटता से विकृति हो, सो भी भिन्न उसी भांति।
काल क्षेत्रादि सर्व ही जो, आत्मा से भिन्न मानू मैं,
भिन्न भिन्न स्व गुण कल्प से, अलकृत सर्व वे ।।

(मालिनी)

बन्ध हो, न हो तदपि, ये मूर्त द्रव्य-जाल,
शुद्ध जीव रूप शून्य, है सब ही विचित्र।
यों जिन शुद्ध वचन, कहे बुधजनो को,
ये जगप्रसिद्ध सत्य, भव्य जान नित्य ।। ७० ।।

(अनुष्टुभ्)

सुधी और कुधी को भी, पहले से ही शुद्धता।
उनमें किस नय से, जानू कुछ भी भेद मैं ।। ७१ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्ध-अशुद्ध की मिथ्या कल्पना तो, मिथ्यात्वी को हो सदा,
शुद्ध कारणकार्य तत्त्व युगल, सद्दृष्टि को है सदा।
सारासार विचार सुधी से यो जो, सद्दृष्टि जानै स्वयं,
अतुल परमागमार्थ उसको, वन्दना हम करें ।। ७२ ।।

(वसततिलका) (श्री समयसार कलश ५)

हा! व्यवहार नय स्यात्, प्राक् पदवोधरो को,
कहा हस्तावलम्बन, जगत में यद्यपि ।
तदपि परम अर्थ, चित् चमत्कार मात्र,
पर विरहित अन्त दर्शी को नही कुछ ॥ ५ ॥

(स्वागता)

नही है, शुद्ध निश्चय नय से,
ससार, मुक्ति मे कुछ भी भेद ।
निश्चित, यो तत्त्व विचार कर,
यही कहैं शुद्ध तत्त्व रसिक ॥ ७३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित) (श्री समयसार कलश १८५)

चित्त चरित उदार मोक्षार्थियो, सेओ सिद्धान्त यह,
मैं तो सदैव शुद्ध एक चिन्मय, परम ज्योति ही हूँ ।
ये जो विविधभाव होते प्रगट, भिन्न लक्षण सभी,
सो मैं नहीहूँ क्योंकि मुझको वे तो, सर्व परद्रव्य हैं ॥

(शालिनी)

हमे तो न, पुद्गल भाव सर्व,
शुद्ध जोवास्तिकाय से अन्य वे ।
स्पष्ट कहैं, जो तत्त्व के वेदी यो,
सो पाते हैं, अति अपूर्व सिद्धि ॥ ७४ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री पद्मनन्दिपचविंशतिका-एकत्व सप्तति श्लोक १४)

आत्म निश्चय सो दर्श, आत्म ज्ञान सो बोध है।
आत्मस्थिति ही चारित्र, ऐसा योग शिवाश्रय ॥

(मालिनी)

जयवत सहज बोध, दृष्टि से सहज,
जयवंत नित्य वैसा, विशुद्ध चरित भी।
अघ पुंज मल, पक-पक्ति निर्मुक्त मूर्ति,
सहज परम तत्त्व–सस्थित चेतना भी ॥ ७५ ॥

व्यवहार चारित्र अधिकार

(शिखरिणी) (बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक ११)

अहिंसा जीवों की, परम ब्रह्म है जग विदित,
सो उस आश्रम विधि में न जहा आरंभ अणु भी।
अत: सिद्धि हेतु, उसकी महा दयावंत आप,
ग्रन्थ दोनो त्यागे, विकृत वेषोपधि रत नही॥

(मालिनी)

त्रस घात परिणाम तिमिर नाश हेतु,
है सभी जग जीवों को, जो सदा सौख्यदायी।
एकेंद्रिय स्थावरों के नाना वध से दूर,
सो जिनधर्म जय हो, चारु सौख्याब्धि पूर॥ ७६॥

(शालिनी)

अति स्पष्ट, सत्य कहें जीव जो,
वे भोगें ही, स्वर्ग स्त्री-भोग बहु।
सदा सर्व सत्पूज्य जग में ये,
अन्य कौन, सत्य से बडा व्रत॥ ७७॥

(आर्या)

उग्र अचौर्य इस जग में, बुलाता है बहु रत्न संचय को।
देवांगना सुखमूल, और क्रम से मुक्ति रमा का॥ ७८॥

(मालिनी)

कामिनी तन-विभूति, सो विभूति मन में,
रे ! कामी चितै यदि तू, तो तुझे मैं कहूं क्या।
सहज परम तत्त्व, स्वस्वरूप तू छोड,
किस हेतु महा मोह, भजै तू ये विस्मय ॥ ७९ ॥

(हरिणी)

भवभीरु भव्य, तजो सभी, परिग्रह-प्रपच,
निरुपम सौख्य-गेह-प्राप्ति-हेतु स्वात्मा मे करो।
अविचल स्थिति, सुखरूप, जग जन दुर्लभ,
यह कोई महा आश्चर्य न, सत् को असत् को तो है ॥ ८० ॥

(मन्दाक्रान्ता)

ऐसे ज्ञान, परमसमिति, मुक्ति-कान्ता सखी जो,
सग छोड, भवभयकारी, कनक-कामिनी का ।
स्थित रहे, अपूर्व अभेद, सहज ही शोभते,
चित्चमत्कार मात्र मे सुगत, सो सदा मुक्त ही ॥ ८१ ॥

(मालिनी)

ये जयवत समिति, जो मुनि शील-मूल,
हिंसा से दूर सर्वत जो त्रस-स्थावरों की।
भव ज्वाला परिताप, क्लेश दूर करती,
पोषै सर्व सुकृत ज्यो, धान्य को मेघमाला ॥ ८२ ॥

(मालिनी)

नियम से वे ही जन्में, इस भवाब्धि माहि,

समिति विरहित जो, इच्छा रोग-पीडित ।

अत मन मन्दिर में, बनाओ अहो मुनि,

उस मुक्ति सुन्दरी का, निवासधाम रम्य ॥ ८३ ॥

(आर्या)

यदि धरे निश्चय समिति, तो मोक्ष पाता मोक्ष स्वरूप हो,

इसके बिना तो वह, हा ! भव महार्णव मे भ्रमता ॥ ८४ ॥

(मालिनी) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २२६)

भली भाति सर्व जाने, सर्व सावद्य दूर,

स्वहित मे लगा चित्त, शात सर्व प्रपंच ।

स्वपर हित वचन, सर्व संकल्प मुक्त,

वे विमुक्त क्यों न होगे, विमुक्ति के भाजन ॥

(अनुष्टुभ्)

परम ब्रह्म स्वात्मा मे निरत बुद्धिभाव को,

अन्तर्जल्प से भी बस, बहिर्जल्प की बात क्या ॥ ८५ ॥

(मालिनी) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २२५)

यम नियम तत्पर, शान्त, बाह्यान्तरात्मा,

परिणमित समाधि, दयावान सब में ।

आगमोक्त हितमित, आहार, जीतैं निद्रा,

सो समूल-दुःख जाल, दहैं, अध्यात्ममर्मी ॥

(शालिनी)

भोजन ले, भक्त हस्ताग्रदत्त,
आत्मा ध्याय, पूर्ण बोध प्रकाश ।
सत् तप यों, तप सो सत् तपस्वी,
पाता दीप्त मुक्ति वारांगना सो ।। ८६ ।।

(मालिनी)

ये श्रेष्ठ परिजन मुनियों की समिति,
शोभती समितियों में, क्षमा मैत्री के सग।
यो नित्य तू भी हे भव्य, उसे धार मन में,
यो मुक्ति श्री कामिनी का, तू प्रियकांत होगा ।। ८७ ।।

(मालिनी)

कुशल जिनमत मे, स्वात्मचिंतन प्रवीण,
मुनियो को ये समिति, मुक्ति साम्राज्य-मूल ।
काम तीक्ष्ण शस्त्र पुज, उनसे छिन्न चित्त,
ऐसे मुनियो को कोई, समिति हो नही हो ।। ८८ ।।

(हरिणी)

समिति-समिति जान मुनि, ये मुक्ति स्त्री की प्यारी,
भव भव-भय तम नाशी पूर्ण शशि प्रभा ये ।
ये सखी तेरी सत् दीक्षा स्त्री को, अब प्रसन्न हो तू,
जिनमत तप सिद्ध कोई ध्रुव फल मिलेगा ।। ८९ ।।

(द्रुतविलम्बित)

अवश्य ही, समिति संग से मुनि,
करें प्राप्त, शीघ्र यह श्रेष्ठ फल।
नहीं जानें, जिसे मन वचन भी,
ऐसा कोई, मात्र सुखसुधामयी ॥ ६० ॥

(बसन्ततिलका)

परमागमार्थ चिन्तन युक्त सदा जो,
बाह्यांतरग सबही, संग से वियुक्त।
श्रीमद् जिनेन्द्र पद के स्मरण सहित,
विजितेन्द्रिय उसको, मनोगुप्ति नित्य ॥ ६१ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री समाधितत्र श्लोक १७)

त्याग यो बहिर्वचन, अन्तरग सभी तजो ।
यही सक्षेप मे योग, परमात्म-प्रदीप जो ॥

(मन्दाक्रान्ता)

वाणी सर्वभवभयकारी, त्याग भव्य जीव तो,
ध्याय शुद्ध, सहज विलासी, चित् चमत्कार एक।
नाश फिर पापतम पुजमुक्ति को अति वरै,
जो है खास सहज महिमा आनन्द की, सौख्य की ॥ ६२ ॥

(अनुष्टुभ्)

काय विकार को त्याग, शुद्धात्मा की पुन: पुन:,
सम्भावना करे सो ही, जन्म सफल लोक में ॥ ६३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मन-वच-पुंज शुभाशुभ सभी, छोड आत्मनिष्ठ जो,
शुद्धाशुद्ध नय रहित अनघ, चिन्मात्र चिन्तामणि ।
पाकर अनन्त चतुष्टयमयी, स्थित रहे जो सदा,
सो जीवन्मुक्ति पाता योगितिलक, पाप वन दाहक ॥ ९४ ॥

(अनुष्टुभ्) (तत्त्वानुशासन श्लोक)

छोड काय क्रियाओ को, भव के हेतु भाव भी ।
स्वात्मा मे स्थिति निश्चल, कायोत्सर्ग कहा वहो ॥

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पंदरूप मैं, परिस्पद रूप तन ।
ये मुझे व्यवहार से, तजूं यों तन-विकृति ॥ ९५ ॥

(मालिनी)

जय हो प्रसिद्ध गात्र, प्रफुल्ल पद्म नेत्र,
सुकृत निवास गोत्र, पडित पद्म-मित्र ।
मुनि जन वन चैत्र, कर्म सेना अमित्र,
सकल हित चरित्र, श्री सुसीमा सुपुत्र ॥ ९६ ॥

(मालिनी)

काम गज मृगराज, पुण्य पद्म रवि राज,
सकल गुण समाज, सर्व कल्प महीज ।
जय हो सो जिनराज, नष्ट दुष्कर्म बीज,
पद नत सुरराज, त्यक्त संसार भूज ॥ ९७ ॥

(मालिनी)

जित रतिपति चाप, सर्व विद्या प्रदीप,
परिणत सुखरूप, पाप को नाश रूप।
हृत भव परिताप, श्रीपद नम्र भूप,
जय हो सो जितकोप, नत विद्वद् कलाप ॥ ९८ ॥

(मालिनी)

जय हो प्रसिद्ध मोक्ष, पद्म पत्र से अक्ष,
जिन जीता पाप कक्ष, नष्ट कदर्प पक्ष।
पद युग्म नमैं यक्ष, तत्त्व विज्ञान दक्ष,
कृत बुधजन शिक्ष, भाखी निर्वाण दीक्ष॥ ९९ ॥

(मालिनी)

मदन गिरि सुरेश, शोभै कायप्रदेश,
नमैं चरण मुनीश, जो यम पाश नाश।
कीर्ति फैली सभी दिश, पाप वन हुताश,
जयवंत जगदीश, चारु पद्मप्रभेश ॥ १०० ॥

(मालिनी)

ज्ञान पुंज सिद्ध प्रभु, व्यवहार नय से,
लोक के शीश बसते, चिद्घन चूडामणि।
निश्चय से तो वे देव, स्वरूपवासी हैं जो,
सहज चित् चिंतामणि, नित्य शुद्ध परम ॥ १०१ ॥

(स्रग्धरा)

जो सर्व दोष नष्ट, त्रिभुवन शिखर, स्थित हैं देहमुक्त,
नमूँ मैं सिद्धि हेतु, अनुपम विशद, ज्ञान-दृक् शक्ति युक्त।
अष्ट कर्म प्रकृति, समुदाय नष्ट जो, नित्य शुद्ध अनन्त,
वे सर्व अव्याबाध, त्रिभुवन तिलक, सिद्ध, मुक्ति पति जो॥ १०२॥

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूप स्थित शुद्ध, प्राप्त अष्ट गुण लक्ष्मी,
नष्ट अष्ट कर्म राशि, सिद्ध वन्दूँ बार बार॥ १०३॥

(शार्दूलविक्रीडित) (श्री वादिराज आचार्य देव)

पचाचार निपुण अकिंचन मति, नष्ट कषाय-स्थल,
भाखें महा पचास्तिकाय-स्थिति जो, ज्ञान बल वर्तते।
विस्तृत निश्चल योग तीक्ष्ण बुद्धि, गुणोत्कर्ष सूरि को,
पूजें भव दुख राशि नाश हेतु हम भक्ति कुशल॥

(हरिणी)

सत्र अक्ष पुंज-आश्रय से विमुक्त निराकुल,
स्व हित निरत, शुद्ध मुक्ति-हेतु का जो हेतु है।
शम दम यम-गेह मैत्री, दया दम मदिर,
वद्य निरुपम ये मन श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का॥ १०४॥

(अनुष्टुभ्)

रत्नत्रयमयी शुद्ध, भव्यकमलों के रवि।
उपदिष्टा उपाध्याय, नित्य वन्दूँ बार बार॥ १०५॥

(आर्या)

भवघर-भवसुख त्यागी, सर्व संग सम्बन्ध मुक्त जो हैं।
सो साधु-मन हम वंद्य, मग्न कर सो शीघ्र स्वात्मा में ॥ १०६ ॥

(वंशस्थ) (श्री मार्ग प्रकाश)

जिस बिना हैं, सुदृष्टि, बोध दोनों,
कुठार अन्तस्थ बीज के समान ।
सुर असुर, नर से स्तुत वही,
जैन चारित्र, वन्दू मैं बार बार ॥

(आर्या)

शील को मुक्तिश्री का, अनग सुख-मूल आचार्य कहा है।
व्यवहार वृत्ति को भी, कहा परंपरा हेतु उसका ॥ १०७ ॥

परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार

(वंशस्थ)

नमू आपको ! मयम बोध मूर्ति,
अनग गज कुभस्थल के भेदी।
विनीत शिष्य-पद्म विकासी रवि,
हे विशोभित, माधव सेन सूरि ॥ १०८ ॥

(वसततिलका)

सर्व विषय ग्रहण-चिन्ता मुक्त भव्य,
स्व द्रव्य गुण पर्याय, आत्म दत्त चित्त।
निज भाव मे भिन्न सर्व विभाव त्याग,
पाता है मुक्ति शीघ्र ही, यो पच रत्न से ॥ १०९ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री समयसार कलश १३१)

भेद विज्ञान से हुए, सिद्ध हुए जो कोई भी,
बधे हैं और जो कोई, सो भी इसके ही बिना ॥

(मालिनी)

यो मुनिनाथ को जब, हो भेदज्ञान उच्च,
तब स्वय उपयोग, ये शोभै मोहमुक्त ।
शम जल निधिपूर, धोये पाप कलक,
है समयसार का ये, कैसा भेद निश्चय ॥ ११० ॥

(मालिनी) (श्री समयसार कलश २४४)

बस, बस बहु जल्प, बहु दुर्विकल्पों से,
अनुभव करो नित्य, ये परमार्थ एक।
स्व रस प्रसर पूर्ण, ज्ञान विस्फूर्ति मात्र,
समयसार से उच्च, निश्चित ही कुछ न ॥

(आर्या)

अति तीव्र मोह द्वारा, पूर्वोपार्जित कर्म प्रतिक्रमण कर।
सद्बोधमय आत्मा मे, आत्मा से वर्तूं मैं नित्य ॥ १११ ॥

(मालिनी) (श्री समयसार कलश १८७)

बन्ध अनन्त कर्म से, सतत सापराध,
निरपराध को कभी, न छूता हो बंधन।
ये सापराध निश्चित, भजै अशुद्ध स्व को,
निरपराध रहता, साधु शुद्धात्म सेवी ॥

(मालिनी)

परमात्म ध्यान की जो, भावना शून्य आत्मा,
सो भवार्त, नियम से, सापराध कहा है।
सदा अखंड अद्वैत, जो चिद् भाव सहित,
सो कर्म सन्यास दक्ष, निरपराध होता ॥ ११२ ॥

(मालिनी)

स्व परमानन्द, एक, गाढ़ अमृतपूर,
स्फुरित सहज बोधरूप आत्मा को आत्मा।
निज शम जल द्वारा, भक्ति आनन्द पूर्ण,
स्नान कराओ जग के बहु वाग्जाल से क्या ॥ ११३ ॥

(स्रग्धरा)

जन्म मृत्यु कारी, सर्व दोष प्रसंग, अनाचार छोड़ अति,
निरुपम सहजानन्द दृग्ज्ञप्ति शक्ति, आत्मा से आत्मस्थ हो।
बाह्याचार प्रमुक्त, शम समुद्र-पुंज से प्रक्षालित,
ये मल क्लेश नष्ट, पवित्र पुराणात्मा, हो लोकोत्कृष्ट साक्षी ॥ ११४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित) (श्री प्रवचनसार कलश १५)

यों यह चरण पुराण पुरुष, सेते अति प्रीति से,
जो उत्सर्ग-अपवाद रूप पृथक, धारे बहु भूमिका।
सो पाय, अतुल निवृत्ति क्रमश, कर यति सर्वत,
चित् सामान्य-विशेष भासी निज द्रव्य में स्थिति करो ॥

(मालिनी)

विषय सुख विरक्त, शुद्ध तत्त्वानुरक्त,
तप मे तल्लीन चित्त, श्रुति समूह मस्त ।
गुण मणि गुण युक्त, सर्व सकल्प मुक्त,
कहो मुक्ति सुन्दरी के, क्यो न होगे वे कन्त ॥ ११५ ॥

(अनुष्टुभ्)

शल्यत्रय सभी छोड, नि शल्य परमात्म में।
सदा स्थिर हो विद्वान, भाओ शुद्धात्मा प्रगट ॥ ११६ ॥

(पृथ्वी)

कषाय क्लेश रंजित, ये चित्त अत्यन्त तज तू,
जो भव भ्रमण हेतु, कामाग्नि-दग्ध पुन पुन ।
घोर संसार भय से, यति तू भज जो निर्मल,
स्वभाव नियत सुख, कर्मवश जो अप्राप्त है ॥ ११७ ॥

(हरिणी)

सदा छोड़ कर, वे विकृति, मन-वच-काय की,
सहज परम यह गुप्ति, संज्ञान पुंजमय ।
उत्कृष्ट रूप से, भजो भव्य, शुद्धात्म भावना से,
निर्मल शील है, ये उस त्रिगुप्तिमय साधु का ।। ११८ ।।

(अनुष्टुम्)

निष्क्रिय, इन्द्रियातीत, ध्यान-ध्येय विवर्जित ।
अन्तर्मुख जो ध्यान सो, शुक्लध्यान योगी कहैं ।।

(वसन्ततिलका)

ध्यानावली भी कहता, न शुद्ध नय तो,
प्रगट सदा शिवमयी, परमात्मा मे ।
कही वहा ही सतत, व्यवहार से सो,
जिनेन्द्र तत्त्व ये अहो ! महा इन्द्रजाल ।। ११९ ।।

(वसततिलका)

परमात्म तत्त्व तो ये, सद्बोधभूषण,
सर्व विकल्प-झुण्ड से, सर्वथा विमुक्त ।
सर्व प्रपंच नयज इसमें नही हैं,
ध्यानावली वह यहां, कहो जन्मी कैसे ।। १२० ।।

(अनुष्टुम्) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २३८)

भवसिन्धु मे भाऊ जो, भावना पूर्व भायो न ।
भायी भावना सो अब, भाऊ न भव नाश को ।।

(मालिनी)

भवजलराशि मग्न, जीव ने पूर्व में तो,
कथन मात्र जो कुछ, है मुक्ति का कारण।
सो सुना, आचरा सब, भव भव में तो भी,
हा ! सुना न, आचरा न, सर्वदा ज्ञान एक ॥ १२१ ॥

(वसंततिलका)

व्यवहार मार्ग रत्नत्रय त्याग और,
सर्व विभाव तज बुध स्व तत्त्व वेदो।
शुद्धात्म तत्त्व नियत, निज बोध एक,
श्रद्धान अन्य, अन्य हो, चारित्र भजता ॥ १२२ ॥

(वसंततिलका) (श्री समयसार कलश १८९)

प्रतिक्रमण ही जहां, विष है बताया,
वहां तो सुधा हो कैसे, अप्रतिक्रमण।
तो नीचे नीचे क्यों, जन हो प्रमादी,
क्यों न चढ़ै ऊर्ध्व-ऊर्ध्व, प्रमाद तजता ॥

(मन्दाक्रान्ता)

आत्म-ध्यान से अन्य सभी हैं, घोर संसार-मूल,
ध्यान-ध्येय युक्त सुतप सो, कल्पना मात्र रम्य।
जान सुधी, सहज परमानन्द पीयूष पूर,
निर्मग्न हो करै एक, सहज परमात्मा ॥ १२३ ॥

(अनुष्टुभ्)

शुक्ल ध्यान प्रदीप ये, प्रकाशे जिस चित्त में।
सो योगी, उसे शुद्धात्मा, प्रत्यक्ष होता है स्वयं ॥ १२४ ॥

(इन्द्रवज्रा)

निर्यापकाचार्य निरुक्त उक्ति,
सुन सदा ही, हो जिसका चित्त।
समस्त चारित्र का निकेतन,
नमूं उसे मैं, संयमधर को ॥ १२५ ॥

(वसततिलका)

सदा प्रतिक्रमण ही, है जिनको और,
अणुमात्र भी नही है, अप्रतिक्रमण।
नमूं उन्हें जो सकल, सयम भूषण,
श्री वीरनन्दि मुनि नामधर को नित्य ॥ १२६ ॥

निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार

(आर्या) (श्री समयसार कलश २२८)

भावी कर्म समस्त, प्रत्याख्यान कर हुआ नष्ट मोह ।
नित्य निष्कर्म चेतन, आत्मा मे आत्मा से वर्तूं ।।

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टि, त्यागता सब ही, कर्म नोकर्म जाल,
सम्यग्ज्ञान मूर्ति उसको है, प्रत्याख्यान नियत ।
सत् चारित्र, प्रचड उसको, पाप पुज हारी जो,
भव-भव क्लेश-नाश हेतु, वन्दूं उसे नित्य मैं ।। १२७ ।।

(अनुष्टुभ्) (श्री पद्मनदिपचविंशतिका-एकत्व सप्तति श्लोक २०)

केवलज्ञान दृक् सौख्य, स्वभाव ये महा तेज ।
इसे जाना, देखा, सुना, क्या न जाना, देखा, सुना ।।

(मालिनी)

जयवत परमात्मा, केवलज्ञान मूर्ति,
सकल विमल दृष्टि, ध्रुव आनन्द रूप ।
सहज परम चित्शक्ति रूप ये शाश्वत,
है सर्व मुनि जनो के, चित्त पद्म का हंस ।। १२८ ।।

(अनुष्टुभ्) (श्री समाधितत्र श्लोक २०)

जो न ग्रहै अग्राह्य को, गृहीत भी छोडे नही ।
जानता सर्वथा सर्व, सो स्वसंवेद्य तत्त्व मैं ।।

(वसंततिलका)

आत्मा में आत्मा निज आत्म गुणाढ्य आत्मा,
पंचम भाव एक को जाने और देखे ।
न तो तजे सो सहज, न ग्रहे ही अन्य,
परभाव जो निश्चय, पुद्गल–विकार ॥ १२६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मेरा मन चिन्मात्र चिंतामणि में, लग्न है सतत ये,
अब अन्य द्रव्याग्रह क्रिया जन्य, छोड यह विग्रह ।
विशुद्ध पूर्ण सहज ज्ञान सौख्य-हेतु सो आश्चर्य न,
देव अमृत-भोजी स्वाद तृप्त क्या, अन्य भोजन चखें ॥ १३० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्द्वन्द्व, निरुपद्रव, निरुपम, नित्य, निजात्मोत्पन्न,
अन्य द्रव्य विकल्प जन्य यह न, सौख्यामृत निर्मल ।
यह पी अब तजे शुभोपयोगी, ये शुभोपयोग भी,
सो पाता स्फुट अद्वितीय अतुल, चिन्मात्र चिंतामणि ॥ १३१ ॥

(आर्या)

गुरु चरण समर्चन से, उत्पन्न निज महिमा जानता जो,
कौन सुधी कहे ऐसा, यह पर द्रव्य तो मेरा है ॥ १३२ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सुधी को सहज परमानन्द एक चिद्रूप ही,
है संग्राह्य, निरुपम ये जो, मुक्ति साम्राज्य-मूल ।
यों मेरा ये सुन वाक्य-सार, तू भी शीघ्र हे सखे,
इस चित् चमत्कार मात्र में, उग्र कर स्व मति ॥ १३३ ॥

(शिखरिणी) (श्री समयसार कलश १०४)

वर्जे निश्चय ही, शुभ-अशुभ सभी कर्म मुनि,
वर्तते निष्कर्म, तदपि न अशरण वे कभी।
ज्ञान ही ज्ञान में, चरता तब मुनि को शरण,
ज्ञान में लीन वे, करें परमामृत पान स्वयं॥

(मालिनी)

जीत मन-वच-काय, सर्व इन्द्रिय-वाछा,
मैं छोड़ू भवोदधि के, मोह जलचरों को।
कनक-युवती की भी वाछा समस्त त्यागू,
प्रबलतर विशुद्ध ध्यान-सर्व बल से॥ १३४॥

(अनुष्टुभ्) (श्री पद्मनंदिपचविंशतिका-एकत्व सप्तति श्लोक ३९)

यही एक ज्ञान श्रेष्ठ, यही एक दर्श शुचि।
यही एक चारित्र है, यही एक तप वर॥

(अनुष्टुभ्) (श्री पद्मनंदिपचविंशतिका एकत्व सप्तति श्लोक ४०)

यही एक प्रणमीय, यही एक है मगल।
यही एक उत्तम है, यही सतो को शरण॥

(अनुष्टुभ्) (श्री पद्मनंदिपचविंशतिका-एकत्व सप्तति श्लोक ४१)

आचार है यही एक, यही आवश्यक क्रिया।
स्वाध्याय भी यही एक, है अप्रमत्त योगी का॥

(मालिनी)

मेरी सहज सुदृष्टि, शुद्ध ज्ञप्ति, वृत्ति मे,
शुभाशुभ कर्म द्वंद्व के सन्यास काल में।
सवर, शुद्ध योग मे, वह परमात्मा है,
नही नही मोक्ष हेतु, अन्य कोई जग में॥ १३५॥

(पृथ्वी)

कभी दिखता निर्मल, कभी निर्मल-अनिर्मल,
फिर कभी अनिर्मल, यों अज्ञ को जो गहन ही।
वही निज ज्ञान दीप, पाप तिमिर नाश कारी,
निश्चल सस्थित है सो, संत उर पद्म-गृह मे ॥ १३६ ॥

(अनुष्टुभ्)

स्वयं कर्म करै आत्मा, स्वय भोगै कर्मफल।
भ्रमै संसार में स्वय, स्वय जग से मुक्त हो ॥

(वसततिलका) (श्री सोमदेव पडितदेव-यशस्तिलक-चम्पू श्लोक ११९)

तू एक, जन्म-मृत्यु मे, प्रवेश करता,
स्वय स्वकृत कर्म के, फल भोगने को।
अन्य तो सुख दु ख मे, न सहायी किंचित्,
तुझे मिली ठग-टोली, निज स्वार्थ साधं ॥

(मन्दाक्रान्ता)

जन्म-मृत्यु, घोर दुष्कृत से, जीव अकेला करै,
तीव्र मोह से हो वह सदा, आत्म सौख्य विमुख।
भोगे कर्म द्वद्वज वहुश, चारु सुख, दु ख को,
एक तत्त्व, गुरु से कैसे भी, पाय तिष्ठै उसी में ॥ १३७ ॥

(मालिनी)

अहो मेरा परमात्मा, ध्रुव कथचित् एक,
सहज परम चित् चिन्तामणि नित्य शुद्ध।
निरवधि निज दिव्य, ज्ञान दर्श समृद्ध,
तो बहु वाह्य भावो से, जगत में मुझे क्या ॥ १३८ ॥

(वसततिलका) (श्री प्रवचनसार कलश १२)

द्रव्यानुसारी चरण, चरणानुसारी,
द्रव्य, परस्पर ये तो, दोनो ही सापेक्ष।
अत मुमुक्षु आरूढ हों मुक्ति पथ में,
द्रव्य का आश्रय कर, चरणाश्रय या ॥

(अनुष्टुभ्)

चित् तत्त्व भावना लीन, जिनकी मति सो यति।
हों यत्नशील यम में, जो नाशै दुखद यम ॥ १३९ ॥

(वसततिलका) (श्री योगीन्द्र देवकृत अमृताशीति श्लोक २१)

आलस्य छोड, स्वाभाविक बल सपन्न,
भजकर कुल देवी उत्कृष्ट समता।
अज्ञान मत्री सहित, मोह शत्रु नाशी,
सज्ञान चक्र ले यह, शीघ्र स्व कर मे ॥

(वसततिलका)

मुक्ति रमा की अमगी, मुक्ति-सौख्य मूल,
दुर्भावना तिमिर पुज को चन्द्र ज्योति।
अत्यन्त भाऊ मैं यह, समता सदा ही,
जो मुनिवरो को होती, तत्काल सम्मत ॥ १४० ॥

(हरिणी)

नित्य जयवंत, समता जो योगी को भी दुर्लभ,
पूर्ण शशि प्रभा, जो स्व मुख सुखसिन्धु-ज्वार को।
परम मुनि की दीक्षा स्त्री की, जो मनप्रिय सखी,
मुनिवर गण और लोक की श्रेष्ठ अलकृति ॥ १४१ ॥

(हरिणी)

सदा जयवत, प्रत्याख्यान, जिनेन्द्र मतोद्भव,
परम मुनि को, करता ये, मोक्ष-सौख्य परम।
सहज समता, देवी का सत्कर्णाभूषण महा,
मुनि सुन तेरी, दीक्षा स्त्री का, अति यौवन-हेतु ॥ १४२ ॥

(रथोद्धता)

भावी भव-भाव निवृत्त जो है,
सो मैं यो मुनिनाथ प्रतिदिन।
भायें मल-त्याग हेतु अमल,
स्व स्वरूप, सर्व सुख निधान ॥ १४३ ॥

(स्वागता)

घोर भव समुद्र-दीप्त यान,
'ये परमात्म तत्त्व' जिन कहा।
अत मोह जीतकर तत्त्वत,
भाता हूँ मैं परमतत्त्व नित्य ॥ १४४ ॥

(मदाक्रान्ता)

प्रत्याख्यान सतत उन्हें जो शुद्ध चारित्र मूर्ति,
भ्रान्ति नाश से सहज परमानन्द चित् निष्ठधी।
अन्य पर समययोगी को, प्रत्याख्यान हो नहीं,
वे संसारी, तो पुनः पुन घोर ससृति ही करें ॥ १४५ ॥

(शिखरिणी)

महानन्दानन्द जो जग प्रसिद्ध शाश्वतमयी,
सो अति नियत, रहे निर्मल गुण सिद्धात्म में।
ये विद्वान भी हा ! घायल काम के तीक्ष्ण शस्त्र से,
क्लेश दग्ध तो भी, क्यों काम के कामी वे जड़ कुधी ।। १४६ ।।

(मंदाक्रान्ता)

प्रत्याख्यान से मुनियों को हो, शुद्ध शुद्ध प्रगट,
सत्चारित्र, दुष्ट पाप तरु, सघन-दावाग्नि जो।
तत्त्व शीघ्र, धार स्व मति में, नित्य हे ! भव्यसिंह,
मुनियों का, जो शीलमूल है, सहज सौख्यप्रद ।। १४७ ।।

(मालिनी)

तत्त्व निपुण बुद्धि के, हृदय पद्म मे ये,
अन्त संस्थित सहज, तत्त्व जयवंत है।
तो भी ये सहज तेज, मोहान्धकार नाशी,
स्व रस विसर दीप्त, ज्ञान प्रकाश मात्र ।। १४८ ।।

(पृथ्वी)

जो अखंडित, शाश्वत, सकल दोष शून्य श्रेष्ठ,
भव समुद्र निमग्न, जीव राशि को पोत सम।
प्रबल दुःख समूह दावानल को है नीर वत्,
वह सहज तत्त्व मैं, नमू सतत प्रमोद से ।। १४९ ।।

(पृथ्वी)

जिन प्रभु मुखारविन्द, विदित-स्वरूप स्थित,
मुनीश्वर मनोगृह में, दीप्त सुरत्न दीप वत् ।
दर्शन मोहादि जयी, योगी जिसको नमते हैं,
नमूं अत्यन्त सदा सो, सुखगेह सहज तत्त्व ॥ १५० ॥

(पृथ्वी)

पापराशि, पुण्य कर्म-समूह जिसने नाशा है,
जिसने धुने कामादि, जो प्रबल ज्ञान महल ।
नमते जिसे तत्त्वविद्, जो प्रकरण नाशात्मक,
नमैं पुष्ट गुणधाम, मोह रात्रि ध्वसो को हम ॥ १५१ ॥

परम आलोचना अधिकार

(आर्या) (श्री समयसार कलश २२७)

मोह विलास-विस्तार, यह सब कर्म-उदय आलोचन कर।
नित्य निष्कर्म चेतन, आत्मा मे आत्मा से वर्तूं ॥

(आर्या) (श्री समंतभद्र आचार्यदेव कृत रत्नकरंड श्रावकाचार मे उपासकाध्ययन श्लोक १२५)

आलोचन कर निष्कपट, कृत, कारित अनुमोदित पाप सर्व।
धार पूर्ण महाव्रत, आमरणपर्यंत स्थित जो ॥

आलोच, आलोच नित्य, शुभ-अशुभ जो घोर ससार मूल,
निरुपधिगुण शुद्धात्मा को, आत्मा से ही भजूं मैं ।
फिर सर्व, द्रव्यकर्म रूप, प्रकृति छेद अति,
सहज विलसती केवल ज्ञान लक्ष्मी वरूंगा ॥ १५२ ॥

(इन्द्रवज्रा)

आलोचना, भेद जानकर ये,
मुक्ति रमा, संगम हेतु जो हैं ।
स्वात्म स्थित, होता भव्य निश्चित,
उसे नमूं, स्वात्म निष्ठित जो है ॥ १५३ ॥

(स्रग्धरा)

जो आत्मा यो आत्मा को, लखता आत्मा द्वारा, आत्मा मे ध्रुवधाम,
अनग सुखमयी, मुक्तिश्री विलास सो, पाता अल्प काल में।
सो सुरेश खेचर, मुनि समूह और, भूचरो से वंद्य है,
वदू सर्ववंद्य, सकलगुणनिधि, उन गुण प्राप्ति को ॥ १५४ ॥

(मदाक्रान्ता)

आत्मा स्पष्ट, परम मुनि के, चित्त पद्ममध्य मे,
ज्ञान ज्योति, पुराण, नाशक पाप तम पुज का।
भववासी के मन-वचन से, जो अतिक्रान्त है,
ऐसे निकट परमात्मा मे, क्या विधि, निषेध क्या॥ १५५ ॥

(पृथ्वी)

चिन्मय सहज तत्त्व, शुद्ध ये जयवंत अति,
सर्वेन्द्रिय झुड जन्य, कोलाहल से विमुक्त है।
नयानय समूह से दूर तोभी मुनि गोचर,
सदा शिवमय, श्रेष्ठ, परम दूर अज्ञानी को ॥ १५६ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

निज सुख सुधा सिंधु मग्न, अपने शुद्धात्म को,
जान, भव्य, परमगुरु से, पाते शाश्वत सुख ।
यो मैं भी सदा भजू अति, अति अपूर्व सहज,
भेद शून्य सिद्धि जन्य सौख्य, शुद्धरूप कोई ये॥ १५७ ॥

(वसंततिलका)

निर्म्मुक्त सर्व सग से, परमात्म तत्त्व,
निर्मोहरूप अनघ, पर भाव मुक्त ।
अत्यन्त भजू मैं ये ही, और नित्य वंदूं,
मुक्ति रमा रतिजन्य, अनंग सुखार्थ ॥ १५८ ॥

(वसंततिलका)

छोड विभाव सब जो, निज भाव भिन्न,
चिन्मात्र एक निर्मल, मैं भाऊं अति ही ।
ससार सिन्धु तरने, मैं नित्य नमता,
निर्वाण मार्ग को भी जो, कहा है अभेद ॥ १५९ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्ध शुद्ध एक भाव पचम नित्य जयवन्त थे,
जो कर्म से, दूर स्फुट सहज स्वदशा संस्थित ।
मोक्ष-मूल सर्व मुनियो का, आत्मनिष्ठावान जो,
एकाकार, स्वरसविसर-पूर, पुण्य, पुराण ॥ १६० ॥

(मन्दाक्रान्ता)

तीव्र मोहोदय से अनादि, लोक-ज्ञानज्योति जो,
मतवाली, नित्य काम वश, स्वात्म कार्य मूढ है,
ज्ञान ज्योति, सो शुद्धभाव हो, मोह के अभाव से,
दिशचक्र उज्ज्वल करे जो, सहज दशा स्फुट ॥ १६१ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

आत्मा भिन्न, है सदा ही द्रव्य, नो-कर्म की राशि से,
अन्त शुद्ध, शम दम गुण, पद्मिनी-राजहंस ।
मोहाभाव, से न ग्रहता सो, सभी पर भावो को,
नित्यानन्द, अतुल गुण ये, चित्चमत्कार मूर्ति ॥ १६२ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

अक्षय अन्तर्गुण मणि गण शुद्ध भावामृत,
नित्य अति निर्मल सिन्धु में, धो दिये पाप मल ।
इन्द्रिय ग्राम कोलाहल को, नष्ट कर शुद्धात्मा,
ज्ञानज्योति, नाश तम वृत्ति, ये प्रकाशता अति ॥ १६३ ॥

(वसततिलका)

समार तो सहज ही, दु खरूप घोर,
और भी नित्य सतप्त, असाता से तीव्र ।
इस लोक मे ये मुनि ही, समता प्रसाद,
हिम-राशि पाते जो है, शमामृतरूप ॥ १६४ ॥

(वसंततिलका)

सिद्ध विभाव पुज को, पाते कभी नही,
क्योकि शुभाशुभ सभी, उन हेतु नाशा।
अत. सुकृत दुष्कृत, कर्म जाल छोड़,
गमन करू मैं एक, मुमुक्षु-पथ में ॥ १६५ ॥

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानदेहो सदा शुद्ध, भजता मैं निज आत्मा ।
छोड ये भवमूर्ति जो, पुद्गल स्कंध अथिर ॥ १६६ ॥

(अनुष्टुभ्)

मेरे अनादि संसार, रोग की श्रेष्ठ औषधि ।
यह शुभाशुभ शून्य, शुद्ध चतन्य भावना ॥ १६७ ॥

(मालिनी)

ये विविध भेद युक्त, पच ससार मूल,
है शुभाशुभ कर्म हो, यों जान सो प्रस्फुट ।
भवमरण विमुक्त, पंच मुक्ति प्रदायी,
नमू और भजू नित्य, यह शुद्धात्मा ही मैं ॥ १६८ ॥

(मालिनी)

सुमधुर अथवा सत्य, वाणी का भी विषय,
ये आत्म ज्योति नही है, जो आदि-अन्त शून्य ।
सो भी गुरु वचन से, जो शुद्ध दृष्टि धारै,
सो मुक्ति श्री कामिनी का, प्रियकान्त बनता ॥ १६९ ॥

(मालिनी)

जय हो सहज तेज, राग तम विनाशी,
मुनिवर-हृदय मे, बसता शुद्ध शुद्ध ।
विषय सुख रतो को, ये दुर्लभ सदैव,
परम सुख समुद्र, शुद्ध ज्ञान, अनिद्र ॥ १७० ॥

(मालिनी)

आलोचना भेद जाल, जिनदेव कथित,
सो सभी देख और, जान निज स्वरूप ।
तजै सर्व पर भाव, सर्वत: भव्य लोक,
सो मुक्ति श्री कामिनी का, प्रियकात बनता ॥ १७१ ॥

(वसंततिलका)

आलोचना सतत शुद्ध नयात्मिका ये,
जो मुक्ति मार्ग फल दे, सयमी को नित्य।
शुद्धात्म तत्त्व नियत, आचरण रूप,
हो कामधेनु निश्चित, मुक्ष सयमी को ॥ १७२ ॥

(शालिनी)

शुद्ध तत्त्व, ये तीन लोक ज्ञाता,
निर्विकल्प, जान जान मुमुक्षु ।
शुद्ध शील, धार सो साधने को,
सिद्धि पाता, सिद्धि श्री नाथ होता ॥ १७३ ॥

(स्रगधरा)

सानन्द तत्त्व मग्न, जिन मुनि हृदय पद्म-केसर मध्य,
निर्व्याबाध, विशुद्ध, काम शर गहन, सैन्य को दावाग्नि जो।
शुद्ध ज्ञान दीप से, मुनि मन गृह का, घोर तम-विनाशी,
वन्दू सो साधु-वद्य, भवसिन्धु तारक, यान ये शुद्ध तत्त्व ॥ १७४ ॥

(हरिणी)

समग्र बुद्धिवत फिर भी, अन्य को कहते जो,
'तू कर नवीन यह पाप,' क्या वे खरे तपस्वी।
उर विलसित, शुद्ध ज्ञान, सर्व श्रेष्ठ पिंड जो,
यह पद जान कर भी, हा ! होते फिर सरागी ॥ १७५ ॥

(हरिणी)

ये सहज तत्त्व, सदा सुख, तत्त्वों में जयवंत,
सतत सुलभ, दीप्त है जो, सुदृष्टि साम्य-गृह ।
श्रेष्ठ कलायुक्त, विकसित स्वगुण प्रफुल्लित,
सहज अवस्था, स्फुट नित्य, स्व महिमा में लीन ।। १७६ ।।

(हरिणी)

सहज परम, तत्त्व सात, तत्त्वों में निर्मल है,
सकल विमल, ज्ञान गृह, निरावरण शिव ।
विशद विशद, नित्य बाह्य प्रपंच पराङ्मुख,
जो मन वच से, कहीं दूर, मुनि को भी सो नमें ।। १७७ ।।

(द्रुतविलम्बित)

जयवंत, जिन ! शांत, रसामृत—
सिन्धु हेतु, नित्योदित, चारु चन्द्र ।
अनुपम, बोध सूर्य किरणों से,
मोह तम, समूह के विनाशी ये ।। १७८ ।।

(द्रुतविलबित)

जन्म-जरा-मृत्यु झुंड, विजयी हैं,
ये दारुण राग ढेर विनाशी हैं ।
पाप महा अन्धकार को सूर्य हैं,
परमात्म पदस्थ ये ।। १७९ ।।

शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार

(मन्दाक्रान्ता)

मुनियो को, स्वात्म चिन्तन ही, है सदा प्रायश्चित्त,
मोक्ष पाते, स्वसुखरत वे, उससे पाप हत ।
अन्य चिन्ता, मुनियों को यदि, तो कामार्त्त मूढ़ वे,
पापी पुन पाप ही उपार्जे, इसमें आश्चर्य क्या ॥ १८० ॥

(शालिनी)

मुनियों का, श्रेष्ठ प्रायश्चित्त ये,
काम क्रोधादि विभाव का क्षय ।
अथवा तो, स्व ज्ञान संभावना,
सन्त जाना, आत्मप्रवाद में यों ॥ १८१ ॥

(वसंततिलका) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २१६)

चित्तस्थ काम फिर भी, न जान जड हो,
क्रोध से 'हर' जलाया, कोई जान बाह्य ।
सो तो हुआ अति दुखी, उस काम द्वारा,
क्रोधोदय से किसकी, नहीं कार्य-हानि ॥

(वसततिलका) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २१७)

निज दाये हाथ आये, चक्र को भी त्याग,
जिन दीक्षा धारी तब ही जो मुक्त होते।
सो बाहुबलि ने किया, चिर काय क्लेश,
किंचित् भी मान करता, अहो ! घोर हानि ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २२१)

डरो माया महागर्त, मिथ्याघोर तममयी।
जिसमें छिपे क्रोधादि, विष सर्प दीखै नही ॥

(हरिणी) (श्री आत्मानुशासन श्लोक २२३)

भील भय से दौडो, दैव से पूछ फसी झाडी मे,
पूछ बाल गुच्छ लोलुप, खडी रही मूर्ख गाय।
हा ! यो चमरी उस भील से, प्राणहीन की गयी,
तृष्णा परिणत, प्राय यो ही भोगते विपत्तिया ॥

(आर्या)

क्षमा से कोध्र कषाय, और मान कषाय मार्दव से ही,
आर्जव से माया को, सतोष से लोभ करो जय ॥ १८२ ॥

(शालिनी)

जो शुद्धात्म, ज्ञान सभावनात्मा,
प्रायश्चित्त, यहा उनको है ही।
पाप पुज हता वे मुनीन्द्र मैं,
नित्य वन्दू, उन गुण प्राप्ति को ॥ १८३ ॥

(द्रुतविलंबित)

अनशनादि, तपश्चरणात्मक,
सहज शुद्ध, चिदात्मज्ञों को यह।
सहज बोध-कला परिगोचर,
सहज तत्त्व, अघ-क्षय हेतु है ॥ १८४ ॥

(शालिनी)

प्रायश्चित्त, हो श्रेष्ठों को यथार्थ,
स्व द्रव्य का, धर्म्म-शुक्ल ध्यान ये।
सद्बोधभा, कर्म झुंड तम को,
निर्विकार, स्व महिमा मे लीन ॥ १८५ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

आत्म ज्ञान से होती क्रमश, आत्मलब्धि सतो को,
ज्ञान ज्योति से अनभ्भुड की, घोर तम नाशी जो।
कर्म वन, जन्य दव शिखा-जाल नाश को सदा,
छोड़े क्षिप्र, शमजलमयी, धारा दावाग्नि पर ॥ १८६ ॥

(उपजाति)

अध्यात्म शास्त्रामृत सिन्धु से मैं,
काढी है ये संयम रत्नमाला।
मुक्ति वधू प्रिय तत्त्वविदों के,
सुकण्ठ की सो, बनी अलंकृति ॥ १८७ ॥

(उपेन्द्रवज्रा)

नित्य नमूं ये, परमात्मा तत्त्व,
बसें मुनीन्द्र, चित्त पद्म में जो ।
जो मुक्ति कान्ता, रति सौख्य मूल,
किया विनष्ट, भव वृक्षमूल ॥ १८८ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

मुनियों ने कहा प्रायश्चित्त, कर्म क्षय कारी जो,
चिदानन्दामृत पूर्ण तप, अन्य कोई कर्म न ।
अनादि बढे कर्म महावन हेतु जो अग्नि का,
ज्वाला जाल, शमसुखमयी, मोक्षश्री को भेट ये ॥ १८९ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

जो शुद्धात्म मे अचल मन, ध्याता शुद्धात्म एक,
नित्य ज्योति, तमपुजनाशी, आदि-अन्त शून्य को ।
ध्याता सदा, श्रेष्ठ कला युक्त आनन्द मूर्ति को जो,
सो आचार राशि यह जीव, शीघ्र जीवन्मुक्त हो ॥ १९० ॥

(हरिणी)

वचन रचना शुभाशुभ, छोड कर भव्य जो,
सम्यक् भाता नित्य, स्फुटरूप, सहज परमात्मा ।
इस ज्ञानात्मक मुनिश्रेष्ठ को नियम से यह,
है शुद्ध नियम जो कि मुक्ति अंगना सौख्य-हेतु ॥ १९१ ॥

(मालिनी)

सदा अखंड अद्वैत चित् से जो निर्विकार,
किंचित् न स्फुरै ही, जहां सर्व नय विलास।
हो गये दूर जिसमें, भेद वाद समस्त,
करूं नमन, स्तवन, सभावना उसी की ॥ १६२ ॥

(अनुष्टुभ्)

ये ध्यान है, ये ध्येय ये, ध्याता है और ये फल,
इन विकल्प जालो से, जो विमुक्त सो नमूं मैं ॥ १६३ ॥

(अनुष्टुभ्)

जो योगपरायण हो, कभी भेदवाद युत,
कौन जानै मुक्त होगा, या न अर्हत् मत मे सो ॥ १६४ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

कायोत्सर्ग सतत होता है, सयतो को निश्चय,
कायोत्पन्न अति प्रबल कर्म-त्याग के कारण।
वाणी और मानस विकल्प समूह के त्याग से,
और स्वात्म ध्यान से नियत, स्वात्म निष्ठावान को॥ १६५ ॥

(मालिनी)

सहज तेज पुज मे, लीन दैदीप्यमान,
सहज परम तत्त्व, मोह तम से शून्य।
सहज परम दृष्टिनिष्ठ जयवत जो,
भवभव परिताप-व्यर्थ कल्पना मुक्त ॥ १६६ ॥

(मालिनी)

भव भव सुख तुच्छ, कल्पना मात्र रम्य,
आत्म शक्ति से मैं नित्य, सो सभी त्यागूं सम्यक् ।
सहज परम सौख्य, चित् चमत्कार मात्र,
प्रगट निज विलास, सर्वदा चेतूं ये मैं ॥ १९७ ॥

(पृथ्वी)

निजात्म गुण सपदा, मेरे उर में स्फुरित ये,
समाधि विषय अहो, सो पूर्व मैं न जानी क्षण ।
तीन जगत वैभव प्रलय-हेतु दुष्कर्मों की,
प्रभुत्व गुण शक्ति से हाय ! हता मैं जगत मे ॥ १९८ ॥

(आर्या)

भव-उत्पन्न विष वृक्ष, फल समस्त जान दुःख के कारण ।
चैतन्यमय स्वात्मा मे, उत्पन्न विशुद्ध सुख भोगूं ॥ १९९ ॥

परम समाधि अधिकार

(वंशस्थ)

श्रेष्ठात्माओं की परम समाधि से,
उर स्फुरित, समतानुयायी जो।
वेदें जबलौं, न सहजात्म लक्ष्मी,
वेदें तबलो, न स्व विषय हम ॥ २०० ॥

(अनुष्टुभ्)

चिन्मयी, निर्विकल्प, समाधिस्थ है नित्य जो।
द्वैताद्वैत विनिर्मुक्त, उस आत्मा को नमू मैं ॥ २०१ ॥

(मालिनी) (श्री योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति श्लोक ५७)

गिरि गहन गुफादि, वन-शून्य स्थल में,
स्थिति, इन्द्रिय निरोध, ध्यान,तीर्थ सेवन।
पठन, जप, होम से, ब्रह्म सिद्धि नहीं है,
अत. उसे अन्यविध, तू गुरुओं से ढूंढ ॥

(द्रुतविलंबित)

अनशन आदि तपश्चर्याफल,
समता से शून्य यति को नहीं है।
अत मुनि, अनाकुल निज तत्त्व,
भज यही, समता कुल मन्दिर ॥ २०२ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

यो तजता भवभयकारी, सर्व सावद्य राशि,
मन-वच-काय-विकृति जो, नाशता निरन्तर।
अत: शुद्धि परम कला से, जानता एक आत्मा,
प्राप्त करे स्थिर शममयी, शुद्धि शील जीव सो ॥ २०३ ॥

(मालिनी)

त्रस हिंसा परिमुक्त, स्थावर वध से भी,
परम जिन मुनियों का चित्त अति नित्य,
कर्म मुक्ति हेतु वर, चरमगत चित्त,
करू नमन, स्तवन, सभावना उसी को ॥ २०४ ॥

(अनुष्टुभ्)

कोई अद्वैत मार्गस्थ, द्वैत पथ स्थित कोई।
द्वैताद्वैत विनिर्मुक्त, मार्ग में हम वर्तते ॥ २०५ ॥

(अनुष्टुभ्)

कोई अद्वैत को चाहें, चाहते हैं कोई द्वैत।
द्वैताद्वैत विनिर्मुक्त, आत्मा को नमता हूँ मैं ॥ २०६ ॥

(अनुष्टुभ्)

सुख आकाक्षी मैं आत्मा, अच्युत, अजन्म, स्वात्मा।
भाता हूँ फिर फिर मैं, आत्म-स्थित हो आत्म से ॥ २०७ ॥

(शिखरिणी)

बस हो बस हो, ये विकल्प कथनी भवप्रद,
अखण्डानन्दात्मा, सर्व नय राशि का विषय न।
यों न द्वैताद्वैत, होय अवर्णनीय यह आत्मा,
मैं वन्दू सो एक, शीघ्र भव भय नाश को सदा ॥ २०८ ॥

(शिखरिणी)

योनि-सुख दुख, सुकृत-दुष्कृत पुज जनित,
आत्मा मे शुभ का, अभाव, अशुभ तो नहीं, नहीं।
लोक में एकात्मा न, भव परिचयी ही निश्चित,
इसी को स्तवू मैं, जो भवगुणगण का त्यागी ॥ २०९ ॥

(मालिनी)

छीनै पाप सैन्य-ध्वजा, स्वधर्म त्याग रूप,
अति घोर तम पुज, ये कर देता नष्ट।
सहज स्फुट तेज-पुज, सदा शुद्ध शुद्ध,
नित्य जग-जयवन्त, चित् चमत्कार मात्र ॥ २१० ॥

(पृथ्वी)

जयवन्त ये निर्दोष, आत्मा तत्त्व ससार छेदो,
महामुनिगण नाथ-हृदय कमल सस्थित।
विमुक्त भव कारण, प्रगट एकांत शुद्ध जो,
सदा स्व महिमा लीन, फिर भी सद्दृष्टि गोचर ॥ २११ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

आत्मा नित्य, नियम संयम, तप, सद् चारित्र में,
मुख्य करे, परम मुनि यों, शुद्धदृष्टि जानें जो।
सो सुन्दर भवभय हर, भावी तीर्थनाथ ये,
राग नाशी, सहज समता, साक्षात् निश्चित धरे ॥ २१२ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

राग-द्वेष, विकृति जग में, कर सके नहीं ही,
ज्ञान ज्योति द्वारा पाप पुंज, घोर तम नष्ट जो।
निकट हो, ये परमानन्द, सुधापूर सहज,
नित्य समरसमयी यहां, क्या विधि, निषेध क्या ॥ २१३ ॥

(आर्या)

यों जिनशासन सिद्ध, होता इसे अणुव्रत रूप सामायिक।
जो मुनि नित्य छोडता, आर्त्त-रौद्र नाम ध्यानद्वय ॥ २१४ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

छोड सर्व, दुष्कृत-सुकृत, संसृति के मूल जो,
नित्यानन्द ये सहज, शुद्ध चैतन्यरूप भजें।
सो सद्दृष्टि, सदा विचरै शुद्ध जीवास्तिकाय मे,
होता फिर, त्रिजग जनों से, महा पूजित जिन ॥ २१५ ॥

(शिखरिणी)

स्वत. सिद्ध ज्ञान, दुष्कृत-सुकृत वन-अग्नि है,
महा मोह तम को, ये अति प्रबल तेजमय।
महामोक्ष मूल, निरुपधि महानन्द सुखद,
नित्य मैं पूजूं ये, ज्ञान भव-भव ध्वंस निपुण ॥ २१६ ॥

(शिखरिणी)

पाप पुंज वश, ये जीव हो संसृति वधू-वर,
कामजन्य सौख्य, आकुलमति दुख सह रहा ।
कभी भव्यत्व से, पाता है निर्वृत्ति सुख शीघ्र वह,
फिर तो सो सिद्ध, वह एक छोड हो चलित न ।। २१७ ।।

(शिखरिणी)

तजू प्रमोद से मैं ये, नोकषाय-विकार सब,
सम्सृति स्त्री जन्य सुख दुःख की झडी जो करें ।
महामोहान्धो को, सतत् सुलभ, दुर्लभ अति,
समाधिनिष्ठों को, सदैव आनन्दित मन जो है ।। २१८ ।।

(मदाक्रान्ता)

इस निर्दोष परमानन्द तत्त्व के जो आश्रित,
धर्म-शुक्ल ध्यान लीन बुद्धि शुद्ध रत्नत्रयात्मा ।
पाता अति, उच्च तत्त्व जहा, घोर दुःख जाल न,
भेद बिन, भव्य को यो दूर, मन-वच मार्ग से ।। २१९ ।।

परम भक्ति अधिकार

(मंदाक्रान्ता)

भव भयहर ये सम्यक्त्व शुद्ध बोध वृत्ति की,
जो अतुल भवछेद दक्ष, भक्ति करें नित्य ही।
काम क्रोध आदि सर्व दुष्ट, पाप पुंज मुक्तात्मा,
भक्त, भक्त है निरन्तर सो, श्रावक या संयमी ॥ २२० ॥

(अनुष्टुभ्)

खिराये कर्म समूह, सिद्धि वधू नाथ सिद्ध।
प्राप्त अष्ट गुणैश्वर्य, वन्दू नित्य शिवालय ॥ २२१ ॥

(आर्या)

व्यवहार नय से यही, निर्वाण भक्ति कही जिनवरों ने।
निश्चय निर्वाण भक्ति, रत्नत्रय भक्ति है, कही यो ॥ २२२ ॥

(आर्या)

नि शेष दोष विरहित, केवल बोध आदि शुद्ध गुण निलय।
शुद्धोपयोग का फल, सिद्धत्व कहा आचार्यों ने ॥ २२३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

जो लोकाग्र निवासी भव भव के क्लेश सिन्धु पार हैं,
जो मुक्ति स्त्री पुष्ट स्तन आलिंगन जन्य सौख्य खान हैं।
जो शुद्धात्म भावनोत्पन्न कैवल्य-सम्पदा महा गुण,
उन सिद्धों को नमू मैं प्रतिदिन, पापाटवी अग्नि जो ॥ २२४ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्रैलोक्य अग्रवामी गुणगुरु, ज्ञेय सिन्धु पारंगत,
मुक्तिश्री वनिता मुखाम्बुज-रवि, स्वाधीन सौख्यार्णव ।
सिद्ध, सिद्ध अष्ट गुण भवहर, नष्ट अष्ट कर्म जो,
मैं नित्य उन नित्य सिद्ध-शरण, पापाटवी अग्नि जो ।। २२५ ।।

(वसततिलका)

जो नर देव वर्ग को, परोक्ष भक्ति के,
योग्य सदा शिवमय, प्रवर, प्रसिद्ध ।
सिद्ध सुर्सिद्ध रमणीय मुख—
पकज महा पराग के भ्रमर नित्य ।। २२६ ।।

(स्रगधरा)

नित्य, निर्मुक्ति-हेतु, निरुपम सहज, ज्ञान, दृक्, शील रूप,
अचल महा शुद्ध, रत्नत्रय आत्मा मे, आत्मा को यत्र आत्मा ।
सस्थाप अति पाता, निरतिशय गृह, आनन्द शोभित ये,
विगलित विपद, हो सिद्धिश्री नाथ, चित् चमत्कार भक्ति से ।। २२७ ।।

(अनुष्टुभ्)

आत्म प्रयत्न सापेक्ष, जो विशिष्ट मनोगति ।
उसका ब्रह्म-सयोग, कहलाता है योग सो ।।

(अनुष्टुभ्)

आत्मा आत्मा में आत्मा से, जोडता ही ये सतत ।
सो मुनीश्वर निश्चित, योग भक्ति सहित है ।। २२८ ।।

(अनुष्टुभ्)

भेद अभाव में होती, योग भक्ति ये अतुल।
इससे योगियों को हो, स्वात्मलब्धि रूप मोक्ष ।। २२९ ।।

(वसंततिलका)

जिन मुनिनाथ मुखारबिंद से व्यक्त,
भव्य जनों के भव घातक तत्त्वों में जो।
त्याग दुराग्रह वह जिन योगिनाथ,
साक्षात् जोड़े निज भाव, यही है योग ।। २३० ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

वृषभादि जिनेश्वर गुणगुरु, त्रैलोक्य पुण्योत्कर,
जो श्री देवेन्द्र मुकुट विभूषित, माणिक्य मालार्चित।
शची आदि जो प्रसिद्ध इन्द्राणी हैं, उन सभी संग में,
इंद्र-नृत्य, गान आनन्द शोभित, स्तवू श्री कीर्तिनाथ ।। २३१ ।।

(आर्या)

वृषभ से ले वीर तक, जिनपति भी इसी यथोक्त मार्ग से।
करके योग भक्ति को, हुए मुक्ति रमा सुख को प्राप्त ।। २३२ ।।

(आर्या)

अपुनर्भव सुख सिद्धि को, मैं करता शुद्ध योगवर भक्ति।
संसार घोर भय से, सब जीव करो सो नित्य ही ।। २३३ ।।

(शार्दूलविक्रीडित)

राग-द्वेष परम्परा परिणत, चित्त को छोड़ अभी,
शुद्ध ध्यान द्वारा शांत मन से मैं, आनन्द तत्त्वस्थित।
निर्मल सुखकारी धर्म पाकर, सान्निध्य में गुरु के,
ज्ञान से हत सर्व मोह-महिमा, पर ब्रह्मलीन हूँ ॥ २३४ ॥

(अनुष्टुभ्)

नष्ट अक्ष-लोलुपता, तत्त्व लोलुपी चित्त में।
सुन्दर आनन्दझर, उत्तम तत्त्व जन्मता ॥ २३५ ॥

(अनुष्टुभ्)

अति अपूर्व स्वात्मा की, भावना जन्य सौख्य का।
यत्न जो यति करते, जीवन्मुक्त सो, अन्य न ॥ २३६ ॥

(वसततिलका)

परमात्व तत्त्व निर्मल, न द्वंद्व स्थित,
यह एकमात्र ही मैं, भाता हूँ सम्यक्।
मैं मुक्ति सुख स्पृह, भव सुख निस्पृह,
अन्य सभी पदार्थों से, जग मे मुझे क्या ॥ २३७ ॥

(मन्दाक्रान्ता) (श्री प्रवचनसार कलश ५)

आत्मा धर्मरूप हो स्वयं यों, पाय शुद्धोपयोग,
नित्यानन्द-प्रसार सरस, ज्ञान तत्त्व विलीन ।
अविचल, अति लीनता से, पाता रत्नदीपवत्,
दीप्त ज्योति, प्रकाश निष्कप, सहज विलास श्री ॥

(मन्दाक्रान्ता)

स्व वश जन्य अवश्य कर्म है यही साक्षात् धर्म,
सत् चित् आनंदमूर्ति आत्मा में, होता अति निश्चित ।
कर्मक्षय कारी पटु यह, मार्ग एक मोक्ष का,
उसीसे मैं पाऊ शीघ्र किसी, निर्विकल्प सौख्य को ॥ २३८ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य, वहा जो अवश है,
स्वहित लीन किमी योगी की, सस्थिति सो निरवित ।
सो दुष्कृत तम पुज नाशी, नित्य स्फुरायमान,
ज्योति से सहज स्फुट दशा, द्वारा होता अमूर्त ॥ २३९ ॥

(मालिनी)

है ये मुनियो का तीव्र, नवीन मोहनीय,
त्रिलोक गृह मे व्याप्त, घोर तम पु ज वत् ।
तीव्र वैराग्य भाव से, छोड तृण गृह भी,
जो चिते हमारा वह घर अनुपम है ॥ २४० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

इस कलिकाल मे भो कही कोई, सुकृतो होय मुनि,
मिथ्यात्वादि कलंक पंक रहित, सद्धर्म रक्षामणि ।
सो मुनि भू पर पूज्य अब फिर, स्वर्ग में देव पूज्य,
अनेक परिग्रह विस्तार मुक्त, पापाटवी अग्नि जो ॥ २४१ ॥

(शिखरिणी)

सभी सुधियों को, इस जग मे तप प्राणप्रिय,
सो योग्य तप तो, सौ इन्द्रो मे भी सतत् वद्य है ।
उसे पाकर जो, कामतिमिर ससार जनित,
सुख में रमे सो, रे ! कलिकाल हत जडमति ॥ २४२ ॥

(आर्या)

पर वश सो ससारी, नित्य दु ख भोगी, भले मुनिवेषी ।
स्ववश सो जीवन्मुक्त, जिनेश्वरों से किंचित् न्यून ॥ २४३ ॥

(आर्या)

अतएव शोभता नित्य, जिननाथ मार्ग-मुनि वर्ग में स्ववश ।
अन्यवश तो शोभै यो, जैसे भृत्यवर्ग मे नृपप्रिय ॥ २४४ ॥

(हरिणी)

तजो, मुनिपुंगवो, सुरलोकादि क्लेश-रति को,
भजो परमानन्द, निर्वाण के हेतु का हेतु जो ।
सकल विमल ज्ञानावास, निरावरणात्मक,
सहज परमात्मा यह, नयानय झुंड शून्य ॥ २४५ ॥

(अनुष्टुभ्)

ब्रह्मनिष्ठ यतियों को, आत्म कार्य छोडकर।
क्या प्रयोजनचिन्ता से, इष्टाइष्ट विरुद्ध जो ॥

(अनुष्टुभ्)

जबलौं चिन्ता जीवों को, तबलौं होती संसृति।
जैसे वर्धन होता है, इंधनयुक्त अग्नि का ॥ २४६ ॥

(पृथ्वी)

जयवंत उदारधी स्व वश योगि वृन्द श्रेष्ठ,
ये भवकारण और पूर्व कर्म राशि नाशक।
स्पष्ट श्रेष्ठ विवेक से, प्रगट शुद्ध बोधरूप,
सदा शिवमयी पूर्ण, मुक्ति पाता प्रमोद से जो॥ २४७ ॥

(अनुष्टुभ्)

प्रध्वस्त पंचबाण जो, सुमूर्ति पंचाचार की।
सो अवंचक गुरु-वाक्, मुक्ति सम्पदा-हेतु है ॥ २४८ ॥

(अनुष्टुभ्)

यो निर्वाण का कारण, जिनेन्द्र मार्ग जान जो।
निर्वाण सम्पदा पाता, वंदू उसे पुन पुन ॥ २४९ ॥

(द्रुतविलम्बित)

हे स्ववश योगि समूह में श्रेष्ठ,
सुन्दर स्त्री, कनक-स्पृहा से शून्य।
काम भील-बाण से क्षत चित्त को,
तू ही इस, भव वन में शरण ॥ २५० ॥

(द्रुतविलंबित)

अनशन आदि तपश्चर्या फल,
अन्य नही, तन विशोषण ही है।
हे स्ववश ! तव पादपद्मद्वय,
चिन्तूं मेरा, जन्म सदा यों सफल ॥ २५१ ॥

(मालिनी)

जयवत सहज तेज राशि मग्न जीव,
स्वरस पूर प्रसर से, पाप सर्व नष्ट ।
सहज समरसपूर्ण, पवित्र पुराण,
स्ववश मन मे नित्य, सस्थित शुद्ध सिद्ध ॥ २५२ ॥

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञ वीतराग से, स्ववश उस योगी का ।
न कभी, कुछ भी भेद, हा ! जड हम, मानें जो ॥ २५३ ॥

(अनुष्टुभ्)

इस जन्म मे एक ही, महामुनि धन्य सदा ।
जो स्ववश अनन्यधी, सर्व कर्म वाह्य रहें ॥ २५४ ॥

(मालिनी) (श्री अमृताशीति श्लोक ६४)

स्वस्वरूप से च्युत हो, किंचित् भी यदि मन,
वाह्य भ्रमैं तो तुझको, सर्व दोष प्रसग ।
अत सतत हो अतर्मग्न सवेग चित्त,
यो स्थायी धाम शिव का, अधिपति तू होगा ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

यदि यो निजात्म रत चरण हो, ससार दु.ख हर,
तो ये है मुक्तिश्री सुन्दरी जनित, सौख्य का हेतु अति।
यों निर्दोष समय का सार जान, जो वेदता सर्वदा,
सो ये वाह्य क्रिया त्यक्त मुनिपति, पापाटवी अग्नि है ॥ २५५ ॥

(मदाक्रान्ता)

मात्र एक अवश्य सहज, परम आवश्यक,
करो अति, आत्मा ! भक्ति मूल ये अघकुलहर।
यो सो नित्य स्वरस विस्तार पूर्ण पुण्य पुराण,
पाता कोई सहज शाश्वत, वचनातीत सुख ॥ २५६ ॥

(अनुष्टुभ्)

स्वात्म वश मुनीन्द्र को, हो श्रेष्ठ स्वात्मचिन्तन।
यह आवश्यक कर्म, मुक्ति सौख्य का मूल है ॥ २५७ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री मार्ग प्रकाश)

बहिरात्मा-अन्तरात्मा, अन्य समय यो द्विधा।
आत्मधी बहिरात्मा की, देह-इन्द्रिय आदि मे ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री मार्ग प्रकाश)

जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट, भेदो मे अव्रत सुधी।
प्रथम, क्षीणमोहान्त, मध्य उनके मध्य मे ॥

(मंदाक्रान्ता)

योगी नित्य, सहज परमावश्य कर्म प्रयुक्त,
संसारज घोर सुख दुःख, वन से दूर रहे।
अतः वह अति आत्मनिष्ठ, है अन्तरात्मा अहो,
स्वात्म भ्रष्ट बहिरात्मा है सो, वाह्य तत्त्व निष्ठ जो ॥ २५८ ॥

(बसततिलका) (श्रीसमयसार कलश ९०)

उठते स्वय बहु, विकल्प जाल युक्त,
नय पक्ष भ्रुडभारी, छोड सभी वह ।
अन्तर्वाह्य समरस, एकरस मय,
अनुभूतिमात्र निज, एक भाव स्वादै ॥

(मन्दाक्रान्ता)

छोड जल्प भवभयकारी ये वाह्य-अभ्यन्तर,
नित्य भज समरसमयी, चित्चमत्कार एक ।
ज्ञानज्योति से अन्तरात्मा स्व, खोल अभ्यंतरंग,
क्षीणमोह हो देखे अन्दर, परमतत्त्व कोई ॥ २५९ ॥

(बसततिलका)

कोई मुनि सतत, निर्मल धर्म-शुक्ल,
ध्यानामृत समरसी, जो वर्ते निश्चय ।
इन दो बिना तो मुनि, बहिरात्मा वह,
मैं समरसी योगी की, जाता शरण में ॥ २६० ॥

(अनुष्टुभ)

बहिरात्मा-अन्तरात्मा, ये विकल्प कुबुद्धि को ।
सुधी को न सभी ये जो, संसार कान्ता के प्रिय ॥ २६१ ॥

(मदाक्रान्ता)

ससारज सुखकारी कर्म, त्याग कर सभी जो,
मुक्ति मूल विमल शील मे, नाश इक् शील मोह।
तिष्ठै आत्मा, अतुल महिमा, चारित्र की राशि सो,
उस समरस सुधा सिंधु, पूर्ण चन्द्र को नमूं ॥ २६२ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

छोड सर्व वचन रचना, सर्वदा भव्य जीव,
निर्वाण स्त्री पुष्ट स्तनद्वय-आलिंगन सुखेच्छु।
नित्यानंदादि श्रेष्ठ महिमाधारी स्वस्वरूप मे,
तिष्ठ देखै अकेला सब ही, जगज्जाल तृणवत् ॥ २६३ ॥

(शिखरिणी)

असार जग मे, पाप बहुल काल वर्ते अभी,
मुक्ति तो न इस अनघ जिननाथ के मार्ग में।
अत कैसे हो अब, अध्यात्म ध्यान यो सुबुध तो,
निजात्म श्रद्धान, स्वीकारै भवभयहर यही ॥ २६४ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

आत्म वेदी पशुजनकृत त्यागै भीति लौकिक,
शुभाशुभ, वचन सृष्टि भी, घोर ससार कारी।
मोह छोड, स्वर्ण, सुन्दरी का, मोक्ष हेतु मुमुक्षु,
आत्मा करै, अविचल स्थिति, स्वात्मा मे स्वात्मा से ही ॥ २६५ ॥

(वसततिलका)

पशु मनुष्य कृत भीति छोड़ सब ही,
सकल लौकिक जल्प, जाल तज मुनि।
आत्म प्रवाद कुशल, परमात्म वेदी,
पाता है नित्य सुखद, निज तत्त्व एक ॥ २६६ ॥

(शिखरिणी)

विकल्प जीवों के, हों ससारकारी बहु प्रकार,
त्यो ही कर्म भी, बहु विध सदा जन्मदातार।
ये लब्धि भी नाना, विमल जिनमार्ग मे विदित,
वाद विवाद यो, न कर्तव्य स्व-पर समयो से ॥ २६७ ॥

(शालिनी)

जग जन, कोई इस लोक मे,
धन पुज, प्राप्त कर पुण्य से।
रहै गुप्त, सग को छोड कर,
ज्ञानो त्योंही, ज्ञान की रक्षा करै ॥ २६८ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

सर्व सग छोड़ जन्म मृत्यु-आतंक का हेतु जो,
बुद्धि से पूर्ण विराग भाव, धार चित्त पद्म में।
सहज परमानन्द अव्यग्र, स्वस्थ हो शक्ति से,
क्षीण मोह हम देखते हैं, लोक तृणवत् सदा ॥ २६९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्व सर्व पुराण पुरुष योगी, आराध्य निज आत्मा,
सर्व कर्म राक्षसों को नाश हुए, विष्णु और जिष्णु जो।
वंदे नित्य अनन्य मन से उन्हें, मुक्ति-स्पृह निस्पृह,
होता वह सर्व पूज्य पादपद्म, पापाटवी-अग्नि सो ।।२७०।।

(मन्दाक्रान्ता)

कनक कामिनी मोह, छोड हेयरूप सर्व ही,
नित्यानन्दी निरुपम गुण, भूषित दिव्य बोध ।
अव्यग्र रूप परमात्मा में, शीघ्र पैठ चित्त,
धर्म पाय परमगुरु से, निर्मल सौख्य हेतु ।। २७१ ।।

शुद्धोपयोग-अधिकार

(अनुष्टुभ्) (श्री महासेन पंडितदेव)

यथावत् वस्तु निर्णय, सम्यग्ज्ञान प्रदीपवत् ।
सो स्व, अर्थ व्यवसायी, स्यात् प्रमिति से पृथक ॥

(मन्दाक्रान्ता) (श्री समयसार कलश १६२)

बंध-नाश से मोक्ष वेदता, ये अतुल, अक्षय,
नित्योद्योत सहज प्रगट, एकान्त शुद्ध दशा ।
एकाकार स्वरस निर्भर, धीर गम्भीर अति,
पूर्ण ज्ञान प्रकट अचल, लीन स्व महिमा में ॥

(स्रग्धरा)

केवलज्ञान मूर्ति, आत्मा देवाधिदेव, ये जिनेश विश्व को,
जाने निरंतर ही, मुक्तिश्री स्त्री के मृदु मुख कमल पर ।
फैलाते काम पीडा, सौभाग्य चिह्न शोभा, व्यवहार नय से,
स्व स्वरूप अत्यन्त, निश्चय से जाने वे, मल क्लेश प्रहता ॥ २७२ ॥

(स्रग्धरा)

वर्तें ज्ञान-दर्शन, युगपत् निरन्तर, सर्वत: सवज्ञ में,
धर्म तीर्थाधिनाथ, ये असदृश एक नाथ सब लोक के ।
ज्यों सर्व तम पुंज नाशक तेज-राशि, जग दृष्टि दातार,
दिनेश में युगपत् ताप और प्रकाश, त्यों ही उन प्रभु में ॥ २७३ ॥

(वसंततिलका)

सद्बोध पोत चढते, भव सिन्धु राशि,
लांघ तू शीघ्र पहुंचा, शाश्वतपुरी में।
वही अभी मैं उसी जिननाथ पथ से,
जाऊं, क्या अन्य शरण, श्रेष्ठों को जग मे ॥ २७४ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

जयवंत एक जिनदेव, केवल ज्ञान भानु,
जो समरसमयी अनग सौख्यदायी मुक्ति के।
पद्मानन पर कोई अकथ काम कांति करें,
क्योंकि कौन सुखो करें न स्व प्रेमभू प्रिया सदा ॥ २७५ ॥

(अनुष्टुभ्)

जिनेन्द्र मुक्तिकान्ता के, मुख पद्म के मधुप।
मधुप लीला से पाया, अद्वितीय अनग सुख ॥ २७६ ॥

(स्रग्धरा) (श्री प्रवचनसार कलश ४)

जानता युगपत् भी, सम्पूर्ण वर्तमान, भूत भावी जग को,
मोह बिना तो आत्मा, पर रूप होय न, कर्म नष्ट करके।
यों यह ज्ञानमूर्ति, प्रचुर विकसित, स्व ज्ञप्ति विस्तार में,
ज्ञेयाकार त्रिलोक, पृथक-अपृथक प्रकाशता मुक्त ही ॥

(मन्दाक्रान्ता)

एक सहज परमात्मा को, जानकर ज्ञान तो,
लोकालोक, और ज्ञेय जाल, सर्व ही प्रकाशता।
दर्श साक्षात् स्वपर विषयी, नित्य शुद्ध क्षायिक,
यो दोनों से, आत्मदेव जानें, ज्ञेय राशि स्व-पर ॥ २७७ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री महासेन पंडित देव)

न ज्ञान से भिन्नाभिन्न, भिन्न, अभिन्न कथंचित् ।
पूर्व और पश्च ज्ञान, सो यह आत्मा, यो कहा ॥

(मंदाक्रान्ता)

आत्मा होय ज्ञान न सर्वथा, सर्वथा न दर्शन,
दो से युक्त, स्व-पर विषय, जानै देखै अवश्य ।
अघकुल हर आत्मा से, ज्ञान दर्श-नाम भेद,
परमार्थ से अग्नि-उष्णवत्, ये भेद न निश्चय ॥ २७८ ॥

(मंदाक्रान्ता)

वास्तव मे तो आत्मा धर्मी है, ज्ञान-दर्श धर्म से,
इसमे ही, नित्य अविचल, स्थिति को प्राप्त कर ।
सम्यग्दृष्टि सर्वेन्द्रिय हिम पुंज को सूर्यसम,
मुक्ति पाता जो सहज, स्फुट दशारूप संस्थित ॥ २७९ ॥

(मालिनी) (श्री श्रुतबिन्दु)

जयवन्त दोषजीत, जिनेन्द्र पादपद्म,
सुरेन्द्र नरेन्द्र मुकुट मणिमाल पूज्य ।
त्रिलोकालोक जिनमे, है युगपत् यो व्याप्त,
ज्यों ज्ञेय-अन्योन्य वृत्ति, निषिद्ध रूप वर्तें ॥

(मालिनी)

व्यवहार नय से तो, ये ज्ञान पुंज आत्मा,
अति स्पष्ट दर्शन से, सर्वलोक प्रदर्शी ।
और साथ जानै सर्व तत्त्वार्थ मूर्तामूर्त,
सो मुक्ति श्रीकामिनी का प्रियकांत बनता ॥ २८० ॥

(मंदाक्रान्ता)

आत्मा निश्चय से ज्ञान है ये, स्व प्रकाशक है जो,
दर्श साक्षात् वाह्याश्रय हत, स्व प्रकाशक सो भी।
एकाकार स्वरस विस्तार, पूर्ण पुण्य पुराण,
नित्य बसै ये नियत स्व निर्विकल्प महिमा मे ॥ २८१ ॥

(मंदाक्रान्ता)

आत्मा देखै, सहज विशुद्ध, परमात्मा एक जो,
स्वान्त शुद्धि-गृह यो महिमा, धारै अत्यत धीर।
है स्वात्मा मे अति अचल यों, अन्तर्निमग्न सदा,
स्वभाव से श्रेष्ठ इसमे न, व्यवहार प्रपंच ॥ २८२ ॥

(मदाक्रान्ता)

जाने सम्यक्, त्रिभुवन गुरु शाश्वतानन्द धाम,
लोकालोक के स्व-पर सब, चेतन-अचेतन ।
केवलज्ञान उत्कृष्ट, तीसरा नयन जो,
उसी से ये प्रसिद्ध महिमा, तीर्थनाथ जिनेन्द्र ॥ २८३ ॥

(वसतनिलका)

जो देखता नही झट, सकलज्ञमानी,
एक साथ त्रिभुवन, और तीनों काल।
प्रत्यक्ष अतुल दृष्टि, उसको न नित्य,
सर्वज्ञता हो कैसे, इस जडात्मा को ॥ २८४ ॥

(अपरवक्त्र) (बृहत्स्वयंभूस्तोत्र श्लोक)

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य चिह्नमय,
चर-अचर जगत ये प्रतिक्षण ।
यों जिन! तू वक्ताओं में श्रेष्ठ है,
यही वचन सर्वज्ञता-लक्षण ॥

(वसंततिलका)

सम्पूर्ण जग अवश्य तीर्थनाथ जानें,
निज सौख्य निष्ठ स्वात्मा एक अनघ न ।
व्यवहार मार्ग से यों, कथनी करे जो,
कोई निपुण मुनि तो, उसको न दोष ॥ २८५ ॥

(अनुष्टुभ्) (श्री आत्मानुशासन श्लोक १७४)

आत्मा ज्ञान स्वभाव है, स्वभाव-प्राप्ति अच्युति ।
अत अच्युति आकांक्षी, भाओ ज्ञान की भावना ॥

(मंदाक्रान्ता)

ज्ञान तो है, यह बराबर, शुद्ध जीव स्वरूप,
अत स्वात्मा, अभी एक स्वात्मा, जानता नियम से ।
और ज्ञान प्रगट सहज दशा से सीधा आत्मा,
नहीं जाने, तो अचल आत्म स्वरूप से भिन्न हो ॥ २८६ ॥

(अनुष्टुभ्)

आत्मा को ज्ञान स्वरूप, स्वज्ञान को जान आत्मा ।
स्व और पर तत्त्व जो, आत्मा स्पष्ट प्रकाशे सो ॥ २८६ ॥

(मन्दाक्रान्ता)

जानें लोकरूपी भवनस्थित, जो पदार्थ सभी,
देखें त्योंही सहजमहिमा, देव देव जिनेश।
तो भी मोह शून्य, पर सभी, कदापि ही न ग्रहैं,
ज्ञानज्योति, मल क्लेश नाशी, सर्वलोक साक्षी ही ॥ २८८ ॥

(मदाक्रान्ता)

इच्छा युक्त वचन रचना, रूप यहा नही ही,
अत. स्फुट महिमावत वे, सर्व लोकेश एक।
यह बन्ध द्रव्यभावरूप, उनमें तो कैसे हो,
क्योंकि मोह बिना न ही सब, राग द्वेषादि जाल ॥ २८९ ॥

(मदाक्रान्ता)

देव एक त्रिभुवन गुरु, नष्ट चार कर्म जो,
सब जग, जगवस्तुजाल, जिनके सद्बोध मे।
उन साक्षात् जिन प्रभु मे न, बध और मोक्ष भी,
और नही हे कोई मूर्छा भी, नही कोई चेतना ॥ २९० ॥

(मदाक्रान्ता)

न हो इन जिनेन्द्र प्रभु मे, धर्म-कर्म प्रपंच,
रागशून्य, अतुल महिमा, वीतराग शोभते।
वे श्रीमान, निजसुख लीन, मुक्ति काता नाथ हैं,
ज्ञान-ज्योति से लोक विस्तार, सर्वत प्रकाशी ये ॥ २९१ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासन कम्प-हेतु जो महा कैवल्य बोधोदय,
मुक्तिश्री के जो मुख कमल रवि, सद्धर्म-रक्षामणि।
सर्व वर्तन युक्त पुराण पर, सर्वथा शून्य मन,
जिनकी महिमा अगम्य है सो ये, पाप वन दाहक ॥ २९२ ॥

(अनुष्टुम्)

षट्काय क्रम से युक्त, भवघरों से भिन्न है।
लक्षण सिद्धों का यों वे, ऊर्ध्वगामी सदा सुखी ॥ २९३ ॥

(मदाक्रान्ता)

बन्ध-छेद से अतुल महिमा, सिद्ध प्रसिद्ध यों,
देव और विद्याधरो के न, प्रत्यक्ष स्तुत्य अब।
लोकाग्र मे व्यवहार से वे, सस्थित देव देव,
ज्यो के त्यो वे स्वात्म मे निश्चय, अचल तिष्ठें अति ॥ २९४ ॥

(अनुष्टुम्)

पच ससार निर्मुक्त, पच मोक्ष फल प्रद।
पंच सिद्धों को वन्दूं मैं, पच ससार मुक्ति को ॥ २९५ ॥

(मालिनी)

अविचलित अखड ज्ञान अद्वद्वनिष्ठ,
जो सर्व पाप दुस्तर झुड को दावानल।
भज दिव्य शर्मामृत, स्वोत्थ भज रहा जो,
यों होगा तुझे अवश्य, विमल ज्ञान पूर्ण ॥ २९६ ॥

(मदाक्रान्ता) (श्री समयसार कलश १३८)

अ नादि से पर्याय-पर्याय, रागी नित्य मस्त हो,

सोता जहां, सो जानो अपद, अपद अन्ध अरे।

आ आ यहां, पद यही यही, चैतन्य धातु यहा।

शुद्ध शुद्ध, स्वरस पूरित, स्थायीभाव रूप ये॥

(शार्दूलविक्रीडित)

भाव पाच हैं जिनमें सतत ये, भाव पचम परं,

स्थायी, ससृति नाश कारण यही, सम्यग्दृष्टि गोचर।

तज सत्र राग द्वेष झुड शोभै, सुबुध जान इसे,

कलियुग में अकेला मुनिपति, पापवन दाहक॥ २९७॥

(मालिनी)

भव भव सुख दुख, न विद्यमान बाधा,

न जन्म मरण पीडा, जिसे जग में नित्य।

उसे नमू सतत मैं, मुक्ति सुख के हेतु,

काम सुख विमुख हो, मैं स्तवू, भाऊ सम्यक्॥ २९८॥

(अनुष्टुभ्)

आत्म आराधनाहीन माना जाता सापराध।

अत नमू नित्य ही मैं, आनन्द मंदिर आत्मा॥ २९९॥

(मालिनी) (श्री योगीन्द्र देवकृत अमृताशीति श्लोक ५८)

ज्वर जन्म जरा की है, वेदना जहां नही,

जहां नहीं मृत्यु और गति या अगति भी।

ये देहस्थ तत्त्व तो भी, पाते निर्मल चित्त,

गुणगुरु गुरु पाद-पद्म सेवा प्रसाद॥

(मंदाक्रान्ता)

इस अतुलगुण भूषित, निर्विकल्प ब्रह्म में,
अति नाना, विषम इन्द्रिय वतन ही न किंचित् ।
अन्य भी न, भवगुणगण, संसार के मूल जो,
इसमे नित्य स्वसुखमयी, शोभे निर्वाण एक ।। ३०० ।।

(मंदाक्रान्ता)

मोक्षस्थित, नाश से विशुद्ध, पाप तम झुंड के,
हैं न जहां, सर्व कर्म और ध्यान का चतुष्क सो ।
ज्ञानपुंज उन सिद्ध प्रभु, परम ब्रह्म में तो,
कोई ऐसी मुक्ति है जो मन, वचन से दूर है ।। ३०१ ।।

(मंदाक्रान्ता)

बंध छेद भगवान हुए, नित्य शुद्ध प्रसिद्ध,
उन सिद्धों में केवल ज्ञान, ये सदा अत्यन्त हो ।
दर्शन साक्षात् सब विषयी, और अत्यन्त सुख,
शुद्ध शुद्ध गुणमणिगण, अन्य वीर्यादि नित्य ।। ३०२ ।।

(मालिनी)

जिनमत मुक्ति और मुक्त जीव में भेद,
जाने न हम कही भी, युक्ति या आगम से ।
भव्य इस जगत में, नाशे जो कर्म सर्व,
सो मुक्ति श्री कामिनी का प्रिय कान्त बनता ।। ३०३ ।।

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोक शीर्ष ऊपर, जीव-पुद्गल दोनों का ।
कभी न गमन होता, गति-हेतु अभाव से ।। ३०४ ।।

(मालिनी)

नियमसार इसका, फल मोक्ष-हेतु यों,
जयवन्त उत्तमों के, हृदय कमल में।
प्रवचन की भक्ति से, सूत्रकार किया जो,
सो सर्व भव्य वर्ग को, मुक्ति मार्ग अवश्य ॥ ३०५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

देह व्यूह वृक्ष पंक्ति भयदा, दु खावली वन-पशु,
भखै जहां कराल कालाग्नि सर्व, सूखता बुद्धि जल।
नाना दुर्नय मार्ग अति दुर्गम, दृष्टि मोह जीवो को,
जैन दर्शन एक ही शरण है, घोर भवस्थली मे ॥ ३०६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

लोक और अलोक जिन प्रभू के ज्ञान तन में बसे,
कपाया सब लोक शंखध्वनि से, श्री नेमि तीर्थेश्वर।
उन स्तुति को कौन नर या देव, शक्त है त्रिलोक में,
तो भी उन स्तुति हेतु एक जिन-भक्ति अति उत्सुक ॥ ३०७ ॥

(मालिनी)

सुकवि जन पद्मों के सुखद मित्र सूर्य,
ललित पद समूह निर्मित यह शास्त्र।
धारे इसे स्व मन में, जो विशुद्धात्म कांक्षी,
सो मुक्ति श्री कामिनी का प्रिय कांत बनता ॥ ३०८ ॥

(अनुष्टुभ्)

श्रेष्ठ पद्मप्रभ नाम, सिन्धुनाथ समुत्पन्न।
ऊर्मिमाला ये टीका की, सच्चित्तों में स्थित रहो ॥ ३०९ ॥

(अनुष्टुभ्)

लक्षण शास्त्र विरुद्ध, हो इसमें कोई पद।
इसे लोप भद्र कवि, उत्तम पद को करो ॥ ३१० ॥

(वसततिलका)

जब तक पूर्णचन्द्र, तारागण युक्त,
शोभै सदैव सुंदर, स्व गतिपथ मे।
तब तक रहो सत, विशाल उर मे,
तात्पर्य वृत्ति यह जो, हेयवृत्ति नष्ट ॥ ३११ ॥

(दोहा)

देव-शास्त्र-गुरु भक्ति से, हुआ कलश-अनुवाद।
भूल होय तो शुद्ध कर, विज्ञ करो निज काज ॥

समाधि भावना

दिन रात मेरे स्वामी' मैं भावना ये भाऊं।
देहान्त के समय मे, निज आत्मा ही ध्याऊ ॥ १ ॥ टेक

करके क्षमा सभी को, सबसे क्षमा कराऊं।
निश्चय क्षमा ग्रहण कर, निज आत्मा ही ध्याऊं ॥ २ ॥

त्यागूं सकल परिग्रह, मिथ्यात्व और कषाय।
समता का भाव धर कर, निज आत्मा ही ध्याऊ ॥ ३ ॥

हो यदि विकल्प तो मैं, परमेष्टी पांचों ध्याऊ।
फिर निर्विकल्प होकर, निज आत्मा ही ध्याऊ ॥ ४ ॥

वैराग्य-ज्ञान की तब, अनुपम कला जगी हो।
जड देह कर्म मुक्त, निज आत्मा ही ध्याऊं ॥ ५ ॥

जीने की हो न इच्छा, मरने की हो न वांछा।
बस ज्ञाता-दृष्टा रहकर, निज आत्मा ही ध्याऊ ॥ ६ ॥

कर दोष का आलोचन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान।
निर्दोष होय सब विध, निज आत्मा ही ध्याऊं ॥ ७ ॥

चैतन्य मेरा प्राण, चैतन्य मम समाधि।
चिद्लीन कर्म मुक्त, निज आत्मा ही ध्याऊ ॥ ८ ॥

हो ज्ञान चेतना बस, चेतूं न कर्म, कर्मफल।
उपसर्ग केवलीवत्, निज आत्मा ही ध्याऊं ॥ ९ ॥

विज्ञप्ति

देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से प्रेरित होकर अनेक परमागम ग्रन्थों की मूल गाथाओं/श्लोकों का उन्हीं छन्दों में सरल हिन्दी पद्यानुवाद हुआ है। इन अनुवादों को आत्मार्थी सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री की पुण्य-स्मृति में श्री कुन्द-कहान परमार्थ प्रकाशन के विविध पुष्पों के रूप में प्रकाशित करना है :—

पुष्प नाम	
१. ज्ञानामृत कलश (श्री समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार कलश)	(प्रकाशित)
२ पंचाध्यायी भाग १-२	(पांडुलिपि तैयार है)
३. आत्मतत्त्वत्रयी (श्री आत्मानुशासन, तत्त्वानुशासन, तत्त्वज्ञान तरंगिणी)	(पांडुलिपि तैयार है)
४ कुदकुद दिव्यामृत भाग १ (श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, अष्टपाहुड)	(संशोधन में)
५ कुदकुद दिव्यामृत भाग २ (श्री मूलाचार, रयणसार, बारस अणुवेक्खा, दशभक्ति)	(संशोधन शेष है)
६ पद्मनदि पचविंशतिका	(संशोधन शेष है)
७. पूज्यपाद धर्मामृत (श्री समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, दशभक्ति)	(,, ,,)
८. भगवती आराधना	(,, ,,)
९. परमात्म योगामृत (श्री परमात्म प्रकाश, योगसार द्वय)	(,, ,,)

१०. स्तोत्रसंग्रह (बृहद् स्वयंभू स्तोत्र, भक्तामर, कल्याणमंदिर आदि अनेक स्तोत्र) (संशोधन शेष है)

११. त्रिविध धर्मामृत (द्वादश अनुप्रेक्षा, श्री पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, श्री रत्नकरंड श्रावकाचार, बृहद् द्रव्य संग्रह, श्री सूक्ति मुक्तावली) („ „)

अन्य सामग्री

१ अध्यात्म पूजा संग्रह (नित्य नियम, पर्व आदि की अध्यात्म रस भरी २४ नवीन पूजायें) (पाडुलिपि बन रही है)

२ चिदानन्द पद संग्रह भाग १ (श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार की संस्कृत टीकाओं पर आधारित लगभग १०० अध्यात्म पद) (संशोधन में)

३. चिदानन्द पद संग्रह भाग २ (अन्य परमागम ग्रन्थ, दश लक्षण, सोलहकारण आदि के लगभग १०० अध्यात्म पद) („ „)

४ श्री तत्त्वार्थसूत्र (आत्म प्रबोधिनी टीका) (पूर्ण हो चुकी है)

आप भी स्व-पर हितार्थ इनमें से एक या अधिक पुष्प चयन कर अपने/अपनी संस्था के नाम से प्रकाशित कर सकते हैं। यथा समय पाडुलिपि भेजी जा सकती है।

निःशुल्क पांडुलिपि के लिये पत्र-व्यवहार का पता :—

अनन्त चैतन्य जैन,
८६४ (प्रथम मंजिल),
जोशी पथ, करोल बाग,
नई दिल्ली—११०००५